सवालों से उजाले तक

जन आंदोलन में विज्ञान की भूमिका

डॉ. अनिल सद्‌गोपाल

किशोर भारती
जून 2015

"प्रत्येक मनुष्य को, जो विकास के लिए खड़ा है, रूढ़िगत विश्वासों के हर पहलू की आलोचना तथा उन पर अविश्वास करना होगा और उनको चुनौती देनी होगी। प्रत्येक प्रचलित मत की हर बात को हर कोने से तर्क की कसौटी पर कसना होगा। यदि काफ़ी तर्क के बाद भी वह किसी सिद्धांत अथवा दर्शन के प्रति प्रेरित होता है, तो उसके विश्वास का स्वागत है। उसका तर्क असत्य, भ्रमित या छलावा और कभी–कभी मिथ्या हो सकता है। लेकिन उसको सुधारा जा सकता है क्योंकि विवेक उसके जीवन का दिशासूचक है पर निरा विश्वास और अंधविश्वास खतरनाक है। यह मस्तिष्क को मूढ़ तथा मनुष्य को प्रतिक्रियावादी बना देता है। जो मनुष्य अपने यथार्थवादी होने का दावा करता है उसे समस्त प्राचीन विश्वासों को चुनौती देनी होगी। यदि वे तर्क का प्रहार न सह सकें तो टुकड़े–टुकड़े होकर गिर पड़ेंगे। तब उस व्यक्ति का पहला काम होगा, तमाम पुराने विश्वासों को धराशायी करके नए दर्शन की स्थापना के लिए जगह साफ़ करना। यह तो नकारात्मक पक्ष हुआ। इसके बाद सही कार्य शुरू होगा, जिसमें पुनर्निर्माण के लिए पुराने विश्वासों की कुछ बातों का प्रयोग किया जा सकता है।"

– शहीद–ए–आज़म भगतसिंह,
('मैं नास्तिक क्यों हूं'?, अक्तूबर 1930)

सवालों से उजाले तक

जन आंदोलन में विज्ञान की भूमिका

डॉ. अनिल सद्‌गोपाल

किशोर भारती

जून 2015

सवालों से उजाले तक

जन आंदोलन में विज्ञान की भूमिका

'शिक्षा में बदलाव का सवाल', ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2000 से साभार।
मूल स्रोत : दिनमान, दिल्ली के क्रमशः 8, 15 और 22 नवंबर 1981 के अंक।

लेखन : अनिल सदगोपाल

आवरण : कनक शशि

प्रकाशन एवं वितरण : किशोर भारती
ई–8/29 सहकार नगर
भोपाल 462 039, मध्य प्रदेश
फोन – (0755) 2560438

प्रथम संस्करण : जून 2012, 1,000 प्रतियां

दूसरा संस्करण : जून 2015, 1,000 प्रतियां

मुद्रण : आर के सेक्यू प्राइवेट लिमिटेड
प्लाट नं, 15, सेक्टर–जी,
इंडस्ट्रीयल एरिया, जे. के. रोड
भोपाल 462 021, मध्य प्रदेश

सहयोग राशि : बीस रुपए मात्र

अनुक्रम

"आज सभी मुल्कों व लोगों के लिए, विज्ञान का अनुप्रयोग अपरिहार्य हो गया है, इसको नज़रअंदाज भी नहीं किया जा सकता। लेकिन इसके अनुप्रयोग से ज़्यादा ज़रूरी कुछ और है। यह मसला वैज्ञानिक दृष्टिकोण का है – विज्ञान का साहसिक लेकिन तब भी आलोचनात्मक मानस; सत्य और नए ज्ञान की खोज; किसी भी विचार को बगैर परीक्षण व जांच के स्वीकारने से इंकार करना; नया सबूत सामने आने पर पूर्व के निष्कर्षों को बदलने की क्षमता; उजागर हुए तथ्य पर भरोसा करना, न कि पूर्वनिर्धारित सिद्धांत (थ्योरी) पर; मानस पर कड़ा अनुशासन – यह सब ज़रूरी हैं, न केवल विज्ञान के अनुप्रयोग के लिए, बल्कि जीवन एवं अनेक समस्याओं का हल निकालने के लिए . . . वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानस एक जीवनशैली, चिंतन की प्रक्रिया, काम करने की पद्धति और अपने देशवासियों के साथ जुड़ने का तौर–तरीका है, होना भी चाहिए . . . वैज्ञानिक मानस वह रास्ता दिखाता है जिस पर इंसान को चलना चाहिए। यह एक मुक्त इंसान का मानस है। हम वैज्ञानिक युग में रहते हैं, ऐसा हमें बताया जाता है, लेकिन कहीं भी लोगों में यहां तक कि उनके राजनेताओं में भी इस मानस का बमुश्किल सबूत मिल पाता है . . . विज्ञान का दायरा जांचे–परखे ज्ञान का है लेकिन इसके ज़रिए जिस मानस का निर्माण होना चाहिए वह इस दायरे के पार जाता है।"

– जवाहरलाल नेहरू

डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया, 1946, पृ. 509–15 से अनूदित

भूमिका

विगत तीन दशकों[1] में 'केरल शास्त्र साहित्य परिषद' की पहलकदमी से शुरू हुए जनविज्ञान आंदोलन ने विज्ञान और समाज के अंतर्संबंधों से जुड़े अनेक प्रश्नों को एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में उभारा है। 1986–87 में केरल के अनुभवों के आधार पर पहली बार इस आंदोलन का एक राष्ट्रीय स्वरूप खड़ा करने की कोशिश हुई। लेकिन इस कोशिश के साथ–साथ यह सवाल भी आंदोलन की प्रक्रिया से जुड़ गया कि ऐसे आंदोलन में सरकारी अनुदान एवं समर्थन की क्या भूमिका है। 1987 से ही भारत सरकार एवं कई राज्य सरकारों ने इस आंदोलन को खुलकर समर्थन दिया। जनविज्ञानकर्मियों द्वारा यह प्रश्न कई मंचों से उभारा गया है कि जो सरकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी के जनविरोधी स्वरूप को पोषित करती है, वही सरकार जनविज्ञान प्रक्रिया की समर्थक कैसे बन गई। यह प्रश्न तब और भी गहराया जब 1989–90 में इस आंदोलन की एक प्रमुख धारा की ओर से सरकार के राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का हिस्सा बनने की पहलकदमी की गई। कई लोगों के अनुसार इस दिशा परिवर्तन से जनविज्ञान आंदोलन सरकारी प्रक्रिया में समाहित होने लगा। लेकिन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत के अनुसार इसी आंदोलन में से एक नई धारा निकली जिसने सरकार में समाहित होने की इस प्रक्रिया से आंदोलन को अलग किया और एक बार फिर जनविज्ञान को

---

[1]आलेख का स्रोत : 'शिक्षा में बदलाव का सवाल', पृ. 211–237, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2000. इस पुस्तिका में दिए गए सभी फुटनोट दूसरे संस्करण में लेखक द्वारा जोड़े गए हैं।

सामाजिक आंदोलन के रूप में पुनर्गठित करने की कोशिश की। मैं जनविज्ञान आंदोलन की इसी धारा के साथ जुड़ा हूं। मेरे द्वारा 1981 में दिया गया यह व्याख्यान आज नए संदर्भों में समझने में मदद करेगा कि जनविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में जनशिक्षण के मायने क्या हैं और किस प्रकार इस परिप्रेक्ष्य में स्कूली तंत्र को बदलने हेतु जनहस्तक्षेप की कोशिश की जा सकती है।■

शुरूआती टीप

इस व्याख्यान में प्रस्तुत विचारों की श्रृंखला की शुरूआत मध्य प्रदेश के शहडोल जिले के अनूपपुर प्रखंड में सक्रिय स्वैच्छिक कार्यकर्ता श्री दुनू राय के 'साइंस टुडे' (अक्तूबर 1979) में प्रकाशित 'ए सर्च फ़ॉर दी मीनिंग आफ़ साइंस' ('विज्ञान के अर्थ की खोज में') शीर्षक लेख से हुई थी। हाल में जनविज्ञान आंदोलन की तरफ देश भर में लोगों के बढ़ते हुए झुकाव को दृष्टिगत रखते हुए जन आंदोलन के विकास में विज्ञान की भूमिका को समझने की जरूरत विशेष रूप से महसूस हो रही है। आशा है, यहां पर प्रुस्तत विचारों से कार्यकर्ताओं के बीच जन आंदोलन के कार्यक्रमों और जनशिक्षण पद्धतियों के विषय पर चल रहे संवाद को और अधिक प्रखर करने में मदद मिलेगी।

इस व्याख्यान में व्यक्त किए गए विचार व्यवस्थित रूप से पहली बार अप्रैल 1980 में मुंबई की प्रख्यात एशियाटिक सोसाइटी के तत्वावधान में आयोजित 'विज्ञान और समाज' शीर्षक की व्याख्यानमाला में अंग्रेजी में प्रस्तुत किए गए थे। इसका एक सुधरा हुआ स्वरूप अगस्त 12, 1981 को भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद् (इंडियन काउंसिल ऑफ सोशल साइंस रिसर्च) के तत्वावधान में नई दिल्ली में विक्रम साराभाई स्मारक व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया। उक्त व्याख्यान का हिंदी रूपांतरण कुछ ताजे व अधिक सशक्त उदाहरणों और परिमार्जित तर्कों के साथ 'दिनमान' के तीन अंकों (8, 15 और 22 नवंबर 1981) में क्रमशः प्रकाशित हुआ।

यहां मैं जो विचार व्यक्त करने जा रहा हूं वे किशोर भारती दल द्वारा 1972 से अब तक ग्रामीण विकास और सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में किए गए काम से संचित अनुभवों और समझ पर आधारित हैं। किशोर भारती संस्था मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले के पूर्वी छोर पर बनखेड़ी प्रखंड के पलिया पिपरिया गांव में स्थित है। इस संस्था के माध्यम से किशोर भारती ग्रुप ने आर्थिक विकास, युवक प्रशिक्षण एवं संगठन, स्वास्थ्य और स्कूलों में तथा स्कूलों के बाहर शिक्षा के कई प्रयोग किए हैं। यद्यपि स्वास्थ्य और आर्थिक विकास के कार्यक्रमों का असर बनखेड़ी प्रखंड तथा उसके आसपास के इलाकों तक ही सीमित रहा है परंतु युवा प्रशिक्षण तथा संगठन और शिक्षा के कार्यक्रमों के माध्यम से हमें केवल जिले भर में ही नहीं वरन् मध्य प्रदेश के कई भागों में सक्रिय और जागरूक लोगों से संपर्क बढ़ाने और उनके साथ काम करने का मौका मिला है। इन सभी गतिविधियों का प्रमुख उद्देश्य समाज में व्याप्त गरीबी, शोषण और विषमता के मूल कारणों को समझना और इन सामाजिक अंतर्विरोधों से जूझने के तरीके खोजना रहा है। कोई भी काम उठाने के पीछे हमारी यह समझ रही है कि अपने हरेक अनुभव का वैज्ञानिक विवेचन किया जाए ताकि इससे हमेशा कुछ सामान्य सिद्वांत निकलें जिनका समाज में व्यापक उपयोग हो सके। अनुभव से सिद्वांत बनाने की इस प्रक्रिया से हमने जो कुछ सीखा है, उसे देश के विभिन्न भागों में सक्रिय सरकारी एजेंसियों, स्वैच्छिक संस्थाओं और जन संगठनों के अनुभवों से जोड़कर लगातार समृद्ध किया है। हम उन सभी समाजकर्मियों एवं विचारकों के आभारी हैं जिन्होंने समय–समय पर अपने अनुभव और समझ को हमारे सामने रखकर हमें सामाजिक न्याय व विकास के लिए चल रहे राष्ट्रव्यापी संघर्ष का अंग बनने में मदद की है।

आगे बढ़ने से पहले मैं एक बात कहना जरूरी समझता हूं कि मैं जो कुछ भी कहने जा रहा हूं, उसका काफी अंश विभिन्न सरकारी व स्वैच्छिक संस्थाओं और जन संगठनों द्वारा किए गए काम के अनुभवों

पर आधारित होगा। इन अनुभवों का जिक्र समाज में व्याप्त अंतर्विरोधों को उभारने और ऐसी परिकल्पनाओं को विकसित करने के उद्देश्य से किया गया है जिन्हें भविष्य में परखा जा सके। इन अनुभवों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन के काम में जुटे हुए किसी भी व्यक्ति या संस्था की आलोचना करना नहीं है। मैं उन सभी लोगों को अपना साथी मानता हूं जो हमारी ही तरह अपने–अपने तरीकों से विभिन्न संस्थाओं और संगठनों में सामाजिक अन्याय, गैरतार्किकता, रूढ़िवादिता और पिछड़ेपन के अन्य कारणों के खिलाफ संघर्ष में जूझ रहे हैं। आशा है कि यहां पर प्रस्तुत किए जा रहे विचारों के माध्यम से मैं अलग–अलग जूझ रहे इन लोगों के संघर्ष को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में रख पाने में कुछ मदद दे पाऊंगा।

पांच अनुभव

सबसे पहले मैं एक ऐसी सरकारी गोष्ठी की कहानी सुनाना चाहता हूं, जो छठी पंचवर्षीय योजना के संदर्भ में विज्ञान और तकनालॉजी की शिक्षा के स्वरूप का पुनरावलोकन करने कि लिए पिछले साल लगभग इसी समय बुलाई गई थी। इस गोष्ठी का उद्देश्य योजना आयोग को यह सुझाव देना था कि विज्ञान और तकनालॉजी की शिक्षा को भारत की आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति के अनुसार कैसे अधिक सार्थक बनाया जाए। गोष्ठी में देशभर से कई प्रख्यात शिक्षाविद और विशेषज्ञ बुलाए गए थे। अध्यक्ष ने गोष्ठी की शुरूआत विशेषज्ञों से सुझाव आमंत्रित करके की। विशेषज्ञों ने अलग–अलग विचारों व योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए एक के बाद एक अपने सुझाव देने शुरू कर दिए। जब सुझावों की झड़ी लग गई तब हममें से कुछ लोग धैर्य खो बैठे और हमने गोष्ठी को रोककर पूछा कि क्या विज्ञान और तकनालॉजी शिक्षा के मामले पर पिछली पांच पंचवर्षीय योजनाओं की कोई समीक्षा उपलब्ध है। जैसाकि अपेक्षित था, वहां कोई भी ऐसी किसी समीक्षा का संदर्भ नहीं दे पाया। तब हमने सुझाया कि पहले हम सबको यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि विज्ञान और तकनालॉजी की

शिक्षा को समाज की जरूरतों के अनुकूल बनाने में पिछली पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान सफलता क्यों नहीं मिली। हमारा तर्क था कि जब तक यह नहीं समझ लिया जाएगा तब तक हमारे पास नए सुझाव देने के लिए कोई तार्किक या वैज्ञानिक आधार नहीं होगा। हमें यह देखकर अत्यंत आश्चर्य और दुःख हुआ कि वहां इकट्ठे हुए चोटी के विशेषज्ञों और शिक्षाविदों के उस दल को न तो हमारे द्वारा उठाए गए प्रश्नों में कोई रुचि थी और न ही उन पर चंद मिनट भी लगाने की तैयारी। लोगों की इस अरुचि को देखकर अध्यक्ष महोदय ने बात बढ़ाने का रास्ता निकाला और कहा 'पिछली पंचवर्षीय योजनाओं में क्या गलतियां हुई हैं, ये तो सभी जानते हैं। इसलिए हमें अब नई शुरूआत करनी है।' इसके बाद वह गोष्ठी लगभग चार घंटे तक आराम से चली। हर विशेषज्ञ ने अपने–अपने सुझाव दिए, जिनका अकसर न तो आपस में और न ही किसी और के सुझावों से कुछ भी लेना–देना होता था। सुझाव देने वालों को यह भी ध्यान नहीं रहा कि वे जो कह रहे थे, उसका ठीक वही या थोड़ा सा फर्क स्वरूप पहले ही अन्य पंचवर्षीय योजनाओं के तहत क्रियान्वित हो चुका था। जब भी किसी ने ऐसी बातों पर सवाल उठाने का प्रयत्न किया तो उन सवालों को जल्दी से यह कहकर रफा–दफा कर दिया गया कि 'हमें विशेषज्ञों के कीमती समय का अधिकतम लाभ उठाना है।' गोष्ठी की समाप्ति पर मैं सोच रहा था कि क्या ये वैज्ञानिक और शिक्षाविद् अपने विषय की किसी शोध समस्या पर भी उस समस्या से संबंधित पिछला साहित्य पढ़े बिना अनुसंधान शुरू कर देंगे। स्वाभाविक है कि ऐसा नहीं होगा।

किसी भी नए काम को उठाने के पहले पुराने अनुभवों का विवेचन करने की वैज्ञानिक पद्धति को इस गोष्ठी में इतनी बुरी तरह क्यों नकारा गया? विज्ञान और तकनालॉजी की शिक्षा को सुधारने के उद्देश्य से इकट्ठे हुए ये राष्ट्रीय स्तर के विशेषज्ञ इस निहायत गैर–वैज्ञानिक प्रक्रिया से आखिर परेशान क्यों नहीं है? इस गोष्ठी की कहानी उन सभी गोष्ठियों के अनुभवों से फर्क नहीं है जिनमें मुझे या मेरे साथियों को गत कई वर्षों में भाग लेने का मौका मिला है। चाहे वे

गोष्ठियां प्रौढ़ शिक्षा की रही हों, चाहे ग्रामीण विकास की, चाहे बंधुआ मजदूरों की समस्याओं की, चाहे सहकारिता की, चाहे अनुकूल तकनालॉजी की और चाहे स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका की। इन सभी गोष्ठियों की एक सामान्य बात रही है कि इनमें अपने और दूसरों के अनुभवों का विश्लेषण करने में कोई रुचि नहीं दिखी और न ही इतिहास से सीखने की कोई तैयारी। सचमुच अचरज होता है कि भारतीय नौकरशाही और तकनीकी विशेषज्ञों के इतने वरिष्ठ कर्ता–धर्ता वैज्ञानिक पद्धति के बुनियादी सिद्धांतों से इतने अछूते कैसे रह गए हैं। इस अंतर्विरोध को कैसे समझा जाए?

अब मैं एक और उदाहरण लेता हूं। 1968 में मैंने नई दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में यूनेस्को द्वारा आयोजित जैव–रसायनशास्त्रियों की कार्यगोष्ठी में भाग लिया। हमारे अनुरोध पर उसी कार्यगोष्ठी के दौरान एक विशेष चर्चा का आयोजन किया गया जिसका उद्देश्य यह समझना था कि भारत और तीसरी दुनिया के अन्य देशों में चल रही मलेरिया निवारण की नीति पर आनुवांशिकी (जनेटिक्स) की नई अवधारणाओं का क्या असर हुआ है। इस चर्चा के लिए एक राष्ट्र–स्तरीय संस्था से मलेरिया निवारण के कुछ अग्रणी विशेषज्ञों को आमंत्रित किया गया। आप सबको याद होगा कि यह वह समय था जब मलेरिया के वापस आ जाने की अत्यंत चिंताजनक खबरें चारों ओर से मिलने लगी थीं। भारत को मलेरिया से मुक्त कर पाने का सपना तभी से टूटना शुरू हो गया था। यह वह समय था, जब डी.डी.टी. से न मर पाने वाले मच्छरों की बढ़ती हुई संख्या के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हो चुके थे और इस कटु सत्य को नकारना असंभव सा हो गया था। चर्चा में जैव–वैज्ञानिकों ने आनुवांशिकी के उन सिद्धांतों का उल्लेख किया जिनके आधार पर डी.डी.टी. से न मर पाने वाले मच्छरों की उत्पत्ति के बारे में समझा जा सकता था। जैव–वैज्ञानिकों ने 'उत्परिवर्तन' (म्यूटेशन) की उस प्रक्रिया का संदर्भ दिया जिसके कारण लगभग हर दस लाख मच्छरों में से एक ऐसा मच्छर हो सकता है, जिस पर डी.डी.टी. का कोई असर न हो। ऐसी

परिस्थिति में डी.डी.टी. छिड़कने से वे सभी मच्छर मर जाएंगे जिन पर डी.डी.टी. का असर होता है परंतु हर दस लाख में एक मच्छर के बच जाने की संभावना है जो उत्परिवर्तन के कारण डी.डी.टी. का असर सह पाने की क्षमता पा चुका है। ऐसा मच्छर फिर प्रजनन करेगा और उसकी संतानें भी ऐसी होंगी जिन पर डी.डी.टी. का कोई असर नहीं होगा। यह भी स्पष्ट किया गया कि किस प्रकार दो या दो से अधिक कीटनाशक दवाइयों का एक साथ उपयोग करने से प्रतिरोधक मच्छर के बच जाने की संभावना दस लाख या उससे भी कई गुना अधिक कम हो जाएगी। इस सिद्धांत का व्यावहारिक उपयोग यह बताया गया कि डी.डी.टी. के साथ एक या दो अन्य कीटनाशक दवाइयां मिलाकर छिड़की जाएं और इस प्रकार देश को प्रतिरोधक मच्छरों से बचा लिया जाए। यह सब सुनकर भी मलेरिया विशेषज्ञों के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी।

उनमें से वरिष्ठतम विशेषज्ञों ने नम्रतापूर्वक कहा कि उनका लेना–देना मलेरिया निवारण के व्यावहारिक कार्यक्रमों से है न कि जीवविज्ञान के सिद्धांतों से, जो वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित जरूर होंगे परंतु उनकी उपयोगिता प्रयोगशाला की चारदीवारी तक ही सीमित है। उन्होंने आगे कहा कि राष्ट्रीय मलेरिया निवारण कार्यक्रम को विश्व स्वास्थ्य संगठन (वर्ल्ड हेल्थ आर्गेनाइजेशन) की स्वीकृति मिली है और उसका वित्तीय तथा तकनीकी समर्थन भी प्राप्त है। उनके अनुसार डी.डी.टी. छिड़कने का कार्यक्रम जोर–शोर से देश भर में चालू है और उसमें मात्र सिद्धांतों के आधार पर परिर्वतन करना संभव नहीं है। जब जैव–वैज्ञानिकों ने अपने तर्क पर जोर दिया तो विशेषज्ञों ने आश्वासन दिया कि यदि कुछेक प्रतिरोधक मच्छर बच जाएंगे तो भी खास फर्क नहीं पड़ने वाला चूंकि कार्यक्रम राष्ट्रव्यापी है! 'मात्र कुछ प्रतिरोधक मच्छरों के कारण हमें अपने दृढ़ निश्चय से डगमगाना नहीं चाहिए', विशेषज्ञों ने जोर देकर कहा। स्पष्ट है कि जैव–वैज्ञानिक इस तर्क–विर्तक में हार गए परंतु जैसा कि सभी जानते हैं कि प्रतिरोधक मच्छर जंग जीत गए। ऐसा क्यों हुआ कि मलेरिया निवारण के काम में

जुटे हुए देश के अग्रणी विशेषज्ञों ने वैज्ञानिक तर्कों और जैव–वैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना की? ऐसा मानना बहुत मुश्किल है कि ये विशेषज्ञ आनुवांशिकी के इन तर्कों और तथ्यों से अनभिज्ञ थे। सवाल उठता है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसी विख्यात और सक्षम संस्था ने आखिर क्यों मात्र डी.डी.टी. के छिड़काव का कार्यक्रम जारी रखा जबकि वैज्ञानिक सिद्धांतों ने इस कार्यक्रम के आधार को ही चुनौती दे दी थी। इस गैरतार्किक निर्णय का बुनियादी कारण क्या हो सकता है? यह अचरज की बात है कि डी.डी.टी.–प्रतिरोधक मच्छरों की संख्या के तेजी से बढ़ने की जानकारी वैज्ञानिकों तक तो क्या, आम–पढ़ी लिखी जनता तक पहुंच जाने के बावजूद आज भी गांवों में अकेले डी.डी.टी. का छिड़काव बेरोकटोक जारी हैं। उतना ही अविश्वसनीय तथ्य यह भी है कि सहायता देने वाली अंतर्राष्ट्रीय स्तर की एक सुप्रसिद्ध संस्था अभी भी देश के संसाधनों और मानव शक्ति की इस बरबादी का न केवल समर्थन भर कर रही है वरन् इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन भी दे रही है। इससे भी अधिक परेशानी की बात तो यह है कि देश के जाने–माने तकनीकी विशेषज्ञों और शीर्षस्थ राष्ट्र नेताओं ने स्वास्थ्य की ऐसी भयंकर समस्या के निवारण कार्यक्रम की स्पष्ट गड़बड़ियों को देखकर भी अनदेखा कर दिया है।

अब तक की बात से कहीं यह भ्रम न हो जाए कि हम मात्र कुछ इनी–गिनी घटनाओं के बल पर तिल का ताड़ बना रहे हैं। वास्तव में हमारा यह दावा है कि ये अनुभव देश में चल रही अनेक प्रक्रियाओं के संकेत मात्र हैं। आइए, अब एक तीसरा उदाहरण लें।

एक अग्रणी राष्ट्र–स्तरीय संस्था (एन.सी.ई.आर.टी.) द्वारा तैयार की गई नई पाठ्यपुस्तकों में जनसंख्या के विषय पर अध्याय हैं, जिनका उद्देश्य बच्चों में देश की इस महत्वपूर्ण समस्या के प्रति जागरूकता पैदा करना है। हमने इन अध्यायों का बहुत बारीकी से अध्ययन और विवेचन किया है। इन अध्यायों में तर्क दिया गया है कि जनसंख्या तेजी से बढ़ने के कारण बढ़ते हुए उत्पादन का कोई खास लाभ देश

को नहीं मिल पाता और गरीबी बढ़ती रहती है। इन अध्यायों में यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि भारत की गरीबी का प्रमुख कारण बढ़ती हुई आबादी है और इन्हीं तर्कों के आधार पर यह कहा जाता है कि गरीबी की समस्या जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण करके और उत्पादन बढ़ाकर ही हल की जा सकती है। इन पाठ्यपुस्तकों में कहीं भी यह समझाने का प्रयास नहीं है कि भारत के गोदाम अनाज से भरे रहने के बावजूद ऐसा क्यों है कि अनाज उगाने वाले करोड़ों मेहनतकश लोग स्वयं कुपोषित रहते हैं और अकसर भूख से मर भी जाते हैं। इन पाठ्यपुस्तकों में संसाधनों के असमान वितरण, समाज में व्याप्त विषमताओं और गरीबी की रेखा के नीचे बसर करने वाले लोगों की क्रय शक्ति की अत्यंत सीमित क्षमता जैसी बातों का कहीं जिक्र तक नहीं है।

इस संदर्भ में आपको अपना एक अनुभव सुनाता हूं। लगभग दो वर्ष पहले होशंगाबाद जिले के 400 शिक्षकों के लिए आयोजित एक विज्ञान प्रशिक्षण शिविर में हमने कुछ शिक्षकों से होशंगाबाद शहर और आसपास के गांवों में कुपोषण की समस्या का सर्वेक्षण करने को कहा। इस सर्वेक्षण का उद्देश्य शिक्षकों को अपने परिवेश की किसी समस्या के आधार पर वैज्ञानिक तरीके से आंकड़े इकट्ठे करने और उनका विवेचन करने का प्रशिक्षण देना था। शिक्षकों को जब यह काम करने का सुझाव दिया गया तो उन्हें यह मजाक लगा क्योंकि उन्होंने सुन रखा था कि होशंगाबाद जिला गेहूं के विपुल उत्पादन का क्षेत्र है और यहां से भारी मात्रा में गेहूं का निर्यात होता है। यदि यह सच है तो कुपोषण की समस्या और वह भी जिले के मुख्यालय के आसपास कैसे हो सकती है? 'हो सकता है कि कुपोषण की समस्या दूर–दराज के किसी आदिवासी गांव में दिखे, पर होशंगाबाद शहर से इसका क्या लेना–देना?' एक शिक्षक ने अपना मत प्रकट किया। इस सबके बावजूद हमने शिक्षकों को सर्वेक्षण करने के लिए मनवा ही लिया। कुछ ही घंटों में ठीक होशंगाबाद शहर में ही भयंकर रूप से कुपोषित बच्चे मिलने की जानकारी इकट्ठी होने लगी। दिन ढलते–ढलते

शिक्षकों के पास यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त आंकड़े हो गए कि कुपोषण की समस्या विशेष रूप से दलित और आदिवासी मुहल्लों में व्याप्त है। इन आंकड़ों के आधार पर हमने अगला प्रश्न उठाया, 'यह कैसी अजीब बात है कि इस इलाके का लगभग हर गांव गेहूं का निर्यात करता है जबकि उन्हीं गांवों में बच्चे कुपोषण से पीड़ित हैं?

अब मामला कुछ साफ हो चला था और कुछ तेज शिक्षकों ने बुनियादी सवाल उठा ही दिया, 'तब क्यों हमारी पाठ्यपुस्तकों में लिखा रहता है कि भारत की गरीबी का मुख्य कारण बढ़ती हुई आबादी है।' क्या यह जरूरी नहीं है कि हमारी पाठ्यपुस्तकों में यह स्पष्ट किया जाए कि बढ़ते हुए उत्पादन का लाभ गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों तक नहीं पहुंच पाता? ऐसा क्यों है कि इन पुस्तकों में समाज के इस बुनियादी अंतर्विरोध का संकेत मात्र भी नहीं है? क्या आपको आश्चर्य नहीं होता कि उत्पादन–आबादी की जिस भ्रांति को होशंगाबाद जिले के शिक्षकों ने एक वैज्ञानिक सर्वेक्षण में ही पकड़ लिया, उसे राष्ट्र–स्तर कि एक अग्रणी संस्था, जिसे देश भर के बच्चों के लिए शिक्षा प्रणाली विकसित करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है, आज तक नहीं पकड़ पाई है?

अब तक जो मुद्दे उभरे हैं, उनकी पुष्टि के लिए मैं एक और उदाहरण आपके सामने पेश करता हूं। तीन साल पहले राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) के एक विभाग के अध्यक्ष के कमरे में मेरा परिचय ब्रिटिश काउंसिल के एक विशेषज्ञ से हुआ। उस विशेषज्ञ ने मुझे बताया के वह एन.सी.ई.आर.टी. को दृश्य–श्रव्य साधनों, विशेषकर स्लाइड–टेप सीरीज़ बनाने के बारे में परामर्श देने भारत भेजे गए हैं। मैंने उनसे जानना चाहा कि क्या वह भारतीय स्कूलों की दशा के बारे में कुछ जानते हैं – जहां चाक व टाट–पट्टी तक खरीदने के लिए पैसे नहीं होते या जहां बिल्डिंग के नाम पर पांच कक्षाओं के लिए मात्र एक कमरा होता है और वह भी कई बार भूतपूर्व जमींदार की दया से उधार मिला होता है – ऐसी

परिस्थिति में बिजली का सवाल कहां उठता है। ब्रिटिश काउंसिल के विशेषज्ञ यह सब पहले से ही जानते थे। स्वाभाविक था कि तब मैंने उनसे यह जानना चाहा कि भारतीय स्कूलों पर इतनी असंगत सी योजना थोपने के पीछे ब्रिटिश काउंसिल का मकसद क्या है। मेरे इस सवाल का विशेषज्ञ महोदय के पास कोई जवाब नहीं था।

इसके बावजूद अजीब बात यह है कि ब्रिटिश काउंसिल के इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया गया। इस प्रकार विज्ञान शिक्षण और प्रशिक्षण के क्षेत्र में कार्यरत देश भर के सैकड़ों कार्यकर्ताओं को इस काम के लिए प्रशिक्षित किया गया है और वे आजकल विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं और विज्ञान शिक्षण के केंद्रों में महंगी स्लाइड–टेप सीरीज़ बनाने के काम में अंधाधुंध जुटे हुए हैं। गत माह जबलपुर में आयोजित शिक्षण प्रशिक्षकों की एक राज्य–स्तरीय गोष्ठी में ऐसी कई स्लाइड–टेप सीरीज़ बहुत शान से प्रदर्शित की गईं।

विदेशी सहायता से प्राप्त महंगे कैमरे, प्रोजेक्टर और टेप रिकार्डर जैसे आधुनिकतम उपकरणों से लैस होकर ये शिक्षक प्रशिक्षक इस भ्रम में पड़ गए लगते थे कि जैसे वे वास्तव में एक उन्नत तकनालॉजी की दुनिया में पहुंच गए हैं – बिना यह सोचे–समझे कि आखिर इस सब साज–सज्जा का लाभ क्या है। जब भी किसी ने यह पूछने की कोशिश की कि इन बहुमूल्य प्रदर्शनों का उपयोग क्या है तो इन शिक्षक प्रशिक्षकों से कोई उत्तर नहीं बन पड़ता था।

आधुनिक तकनालॉजी के भुलावे की दुनिया में ये विशेषज्ञ इतने खो गए थे कि उन्हें इस बात का अहसास भी नहीं था कि उनके द्वारा निर्मित स्लाइड–टेप सीरीज़ की भाषा इतनी संस्कृतनिष्ठ हो गई थी कि उसे प्राथमिक शालाओं के बच्चे समझ तक नहीं पाते। जबलपुर गोष्ठी में बच्चों के प्रति देखी गई संवेदनशीलता की इस हद तक की कमी आधुनिकीकरण की इस दौड़ पर गहरे सवाल खड़े करती है।

बात यहीं खत्म नहीं हुई। स्लाइड–टेप द्वारा बच्चों को सलाह दी गई कि वे खूब फल–सब्जी, दूध, मक्खन, अंडा और मांस जैसी चीजें खाएं। इससे साफ था कि सलाह देने वालों को गरीबी की उस परिस्थिति का आभास तक नहीं है जिससे वे अधिकतर बच्चे आते हैं।

जब विशेषज्ञों का ध्यान उपदेशों और यथार्थ के बीच की इस खाई की ओर आकर्षित किया गया तो एक ग्रामीण शिक्षक ने बीच में टोककर कहा, 'आप नाहक परेशान हो रहे हैं। यह सब शानदार सामान हमारे स्कूलों तक कभी नहीं पहुंचेगा।' यह सीधी–सच्ची बात जिसे गांव का एक शिक्षक इतनी अच्छी तरह समझता है, वह इस कार्यक्रम को चलाने वाले राष्ट्र–स्तरीय विशेषज्ञों और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के पल्ले नहीं पड़ पाई। इस पूरे कार्यक्रम की निरर्थकता तब और भी ज्यादा उभर आती है, जब यह पता चलता है कि इन शानदार तथा महंगी स्लाइड–टेप सीरीज़ को बनाने वाले अधिकांश लोगों ने बच्चों के लिए दीवार पर टांगने वाले सीधे–सादे चार्ट तक बनाने में न तो पहले कभी कोई रुचि दिखाई है और न ही इस साधारण काम में अपनी योग्यता का कोई सबूत दिया है। मान लीजिए कि यदि राष्ट्रीय संसाधनों और शक्ति की इस बरबादी पर संसद में प्रश्न उठाया जाए तो देश की सामाजिक तथा आर्थिक सच्चाई को नकार कर चलाए जाने वाले ऐसे कार्यक्रमों के पक्ष में कहने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. के पास क्या होगा।

मैंने अभी तक जो कुछ भी कहा है, उससे शायद ऐसा लगने लगा होगा कि ऐसी गैर–वैज्ञानिक परंपराएं और गैर–तार्किक सोच केवल उच्च शिक्षा प्राप्त और अभिजात तबके के लोगों की खासियत है और इसलिए इसका असर केवल राष्ट्र–स्तरीय संस्थाओं पर ही दिखता है। परंतु यह सही नहीं है। गैर–तार्किक प्रक्रियाएं तो ऊपर से नीचे तक पूरे समाज में ही व्याप्त हैं। एक उदाहरण लीजिए। आज से दस साल पहले मुझे नासिक में आयोजित एक सर्वोदय सम्मेलन में भाग लेने का मौका मिला जिसकी अध्यक्षता स्वर्गीय श्री जयप्रकाश नारायण स्वयं

कर रहे थे। इस सम्मेलन में ग्रामदान आंदोलन को सशक्त (पुष्टीकरण) करने के लिए कुछ चुने हुए इलाकों में सघन काम करने का निर्णय लिया गया। हर राज्य को सघन प्रयास के लिए तीन–तीन जिले चुनने को कहा गया ताकि उनमें ग्रामदान के कुछ सफल परिणाम दिखाए जा सकें।

इसके बाद हर राज्य–स्तरीय इकाई की बैठक अलग–अलग हुई। उत्तर प्रदेश इकाई की बैठक में राज्य–स्तरीय सचिव ने कार्यकर्ताओं को तीन जिलों का नाम सुझाने को कहा। लेकिन किसी की भी कुछ बोलने की हिम्मत नहीं हुई। तब सचिव ने स्वयं ही बोलना शुरू कर दिया। उन्होंने प्रस्ताव दिया कि सबसे पहले बलिया जिले को चुनना चाहिए 'क्योंकि जे.पी. का जन्म वहां हुआ था।' उन्होंने बेहिचक अगला प्रस्ताव दिया कि दूसरा जिला आगरा होना चाहिए क्योंकि राज्य–स्तरीय इकाई के अध्यक्ष वहां के ही थे और स्वाभाविक था कि तीसरा जिला वह होना चाहिए जहां से वे स्वयं आए थे।

इस चयन के आधार पर न तो कोई चर्चा हुई और न ही कोई प्रश्न पूछे गए। तीन सौ सर्वोदय कार्यकर्ताओं द्वारा तत्काल उत्साहपूर्वक हाथ उठाकर दिए गए समर्थन ने मुझे चकित कर दिया। हैरत की बात तो यह थी कि किसी इलाके की आर्थिक व सामाजिक परिस्थिति का आकलन किए बिना, वहां के स्थानीय कार्यकर्ताओं की तैयारी के बारे में सोचे–समझे बिना और ग्रामदान के प्रति उस क्षेत्र के लोगों का रुख जाने बिना एक पूरे वर्ष का कार्यक्रम तय कर लिया गया। सवाल उठता है कि श्री जयप्रकाश नारायण का जन्म भर हो जाना उस जिले के चयन का सही आधार कैसे मान लिया गया। आखिर क्यों सर्वोदय के मंजे हुए सैकड़ों कार्यकर्ताओं ने बिना कोई सवाल उठाए इसे स्वीकार लिया? क्या उन्हें सचिव द्वारा प्रस्तुत तर्कों में कोई कमी नहीं दिखी? क्या यह सर्वोदयी कार्यकर्ताओं को दिए गए प्रशिक्षण की पद्धति में या यों कहिए कि पूरी सर्वोदयी परंपरा में एक बहुत बड़ी कमी नहीं दिखाता है? ■

अनुभवों से सिद्धांतों का विकास

आइए, अब हम अपने समाज के इस गैर–तार्किक रवैए की जड़ें पहचानने की कोशिश करें। इन जड़ों को पहचानकर और इनकी गहराई का अंदाजा पाकर ही हम ऐसे कार्यक्रम सोच सकते हैं जिनसे आज की अंतर्विरोधों से भरी परिस्थिति का कुछ हल निकल सके। इस समय मुझे हमारे द्वारा 1972 में 40 ग्रामीण शिक्षकों के लिए आयोजित पहले विज्ञान प्रशिक्षण शिविर की याद आ रही है। हमने शिविर के पहले दिन ही शिक्षकों से उनके सामने पड़ी हुई मेज की लंबाई बारी–बारी से नापने को कहा। शिक्षकों ने पैमाने से एक–एक करके बहुत सावधानीपूर्वक मेज की लंबाई नापी और अपने–अपने आंकड़े कागज की पर्चियों पर लिख लिए। प्रयोग के अंत में सभी शिक्षकों के आंकड़े श्यामपट्ट पर लिख दिए गए। परंतु आंकड़े सामने आते ही शिक्षकों में अचानक खुसुर–पुसुर शुरू हो गई। शिक्षकों के नाप 98 सेंटीमीटर से लेकर 108 सेंटीमीटर तक फैले हुए थे। आंकड़ों का यह फैलाव शिक्षकों को परेशान कर रहा था और उनमें से कुछ ने 'इसने सही नहीं नापा' या 'उसने सही नहीं नापा' कहकर विरोध प्रकट किया। प्रयोग दोहराया गया। आंकड़ों का फैलाव कुछ कम हुआ – अब आंकड़े 100 सेंटीमीटर से 106 सेंटीमीटर तक थे। तीसरी बार यह फैलाव कुछ और घटकर 101 सेंटीमीटर से 105 सेंटीमीटर तक रह गया। परंतु सचाई यह थी कि फैलाव बना रहा, शून्य नहीं हुआ। निष्कर्ष निकल रहा था कि अभ्यास करके और अपना प्रायोगिक कौशल बढ़ाकर फैलाव को घटाया जरूर जा सकता है परंतु उसे शून्य नहीं किया जा सकता।

शिक्षकों में तो हलचल मच गई। ऐसा कैसे हो गया? 'विज्ञान तो शाश्वत सत्य है', एक शिक्षक ने दार्शनिक अंदाज में कहा। 'सत्य एक से अधिक तो हो ही नहीं सकता। विज्ञान में एक प्रश्न के अनेक उत्तर कभी आ ही नहीं सकते', एक अन्य शिक्षक ने अपनी गहरी परेशानी व्यक्त की। अधिकांश ने जोर देकर कहा कि न तो पैमाने की और न ही मेज की लंबाई बदल रही है, फिर आंकड़ों में घट–बढ़ कैसे हो

सकती है? अवलोकनों में कुछ घट–बढ़ तो होगी ही, यह मानना शिक्षकों के लिए अपने अंदर एक गहरे पैठे हुए मूल्य को चुनौती देने जैसा सिद्ध हुआ है। 1972 से आज तक हम लगभग हर साल शिक्षकों के नए–नए दलों को यह प्रयोग करवाते रहे हैं। हर बार वही अनुभव रहा है। इस अनुभव को पचा पाने में हमारे विज्ञान शिक्षकों को सांस्कृतिक स्तर पर दिक्कत आई है, परंतु अब धीरे–धीरे लग रहा है कि होशंगाबाद जिले के करीब 300 मिडिल स्कूलों में पढ़ाने वाले लगभग 600 विज्ञान शिक्षकों के जीवन में एक नया मूल्य विकसित हो रहा है – कुछ न कुछ अंतर, यानी घट–बढ़ किसी भी वैज्ञानिक अवलोकन की प्रक्रिया में निहित है।

अब सवाल यह उठता है कि अवलोकनों में इस प्रकार के अंतर क्या केवल विज्ञान में ही होते हैं या सामाजिक विज्ञान में भी। हमारे पास अब तक समाज विज्ञान के अवलोकनों में होने वाले दो तरह के अंतर सामने आए हैं। एक तरह का अंतर अध्ययन के तरीके में गलती होने के कारण होता है। इसके लिए मैं आपको एक कहानी सुनाता हूं। आज से लगभग दो साल पहले जब मध्य प्रदेश में भयंकर सूखा पड़ा था, तब आसपास के क्षेत्रों में सूखे का असर पता करने के लिए हमने स्थानीय युवाओं का एक शिविर आयोजित किया था। कुछ युवाओं ने बेरोजगारी की समस्या पर सूखे के प्रभाव का सर्वेक्षण किया। कामती गांव के एक युवक ने कहा कि उसके गांव में बेरोजगारी की कोई समस्या नहीं है और उसके आंकड़ों से यह पता चल रहा था कि गांव में कुएं खोदने के लिए मजदूर नहीं मिल रहे हैं। उसने अधूरे खुदे कुओं की जानकारी सबके सामने रखी। पर उसी गांव के एक अन्य युवक ने तुरंत पहले वाले युवक द्वारा दी गई जानकारी से अपनी असहमति जाहिर की। उसने बताया कि काम न मिलने के कारण उसी गांव के अधिकांश छोटे किसान तथा खेतिहर मजदूर रेलवे लाइनों और पी.डब्ल्यू.डी. की सड़कों पर रोजगार की तलाश में गांव से बाहर जा चुके थे। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उसने आंकड़े भी पेश किए। इसके बाद आंकड़ों का विवेचन हुआ। दोनों युवकों से प्रश्न पूछे

गए और पता चला कि दोनों के आंकड़े सही थे। फिर गड़बड़ कहां थी? आखिर रोजगार की सही परिस्थिति क्या थी?

इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने के लिए कुछ लोग उन्हीं युवकों के साथ फिर कामती गांव गए। उसके बाद धीरे–धीरे बात समझ में आनी शुरू हुई – फर्क दोनों युवकों की आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में था, जिसका असर उनके अवलोकनों में साफ झलक रहा था। उनमें से पहला युवक एक बड़े किसान का लड़का था। दूसरा युवक एक छोटे किसान के घर का था – उसका घर गांव के गरीब मुहल्ले में था। बड़े किसान या अगल–बगल के घरों में मजदूर मिलने की समस्या इसलिए उठी क्योंकि उन लोगों के यहां या तो मजदूरी बहुत कम मिलती थी या बिलकुल ही नहीं मिलती थी और लगातार काम मिलने की गारंटी भी नहीं थी। दूसरा युवक गरीबी के ज्यादा निकट था और रोजगार जैसी समस्या उसकी अपनी समस्या भी थी। पहले युवक के अवलोकन उसकी अपनी विशेष सामाजिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होकर सीमित हो गए थे – उनका आधार संपन्न किसानों के आईने से दिखने वाला यथार्थ था। दूसरे शब्दों में, उस युवक को दिखता वही था जो उसके अपने और उसके आसपास के संपन्न परिवारों में घट रहा था।

सवाल नज़रिए का था। इस प्रकार सामाजिक विज्ञान में अवलोकनों में अंतर इस बात पर निर्भर करेगा कि किस पृष्ठभूमि के लोगों को ध्यान में रखकर आंकड़े इकट्ठे किए गए हैं और यह सब अवलोकनकर्ता की अपनी सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि से जुड़ा होगा। हमारा मत है कि अवलोकन की ऐसी गलतियां वैज्ञानिक पद्धति के प्रशिक्षण से ठीक की जा सकती हैं, जैसा कि दो वर्ष पूर्व युवाओं के इस शिविर में प्रश्न पूछकर, अवलोकन दोहरा कर और उनका विवेचन करके करना संभव हुआ था।

सामाजिक विज्ञान के अवलोकनों में अंतर का एक अन्य कारण भी है जिसे वैज्ञानिक पद्धति के प्रशिक्षण से दूर करना संभव नहीं है। मैं

इसका भी एक उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करने की कोशिश करूंगा। 1978 में भारत सरकार के विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग (डिपार्टमेंट ऑफ साइंस एंड टेक्नॉलॉजी) ने एक दल ओडिशा के पुरी जिले में भेजा था। मुझे भी इस दल के सदस्य के रूप में ओडिशा जाने का मौका मिला था। इस दल को पुरी जिले के पांच गांवों के एक समूह के विकास के लिए योजना बनाने का काम दिया गया था। हम लोग भुवनेश्वर में कुछ समय के लिए रुके और उसी दौरान सरकारी विशेषज्ञों ने उनके द्वारा किए हुए उन्हीं पांच गांवों के सर्वेक्षण की संक्षिप्त जानकारी हमें दी। हमें बताया गया कि उस क्षेत्र की सबसे प्राथमिक जरूरत एक आधुनिक गोसंवर्धन या पशु विकास कार्यक्रम की है जिसके तहत कृत्रिम गर्भाधान, हरा चारा उगाने, पशु चिकित्सा और पशु आहार की सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं। परंतु जब हम उस क्षेत्र में पहुंचे तो वहां की भयंकर गरीबी और सूखे की परिस्थिति देखकर चक्कर में पड़ गए।

हमें समझ में नहीं आया कि ऐसे सूखाग्रस्त और गरीब क्षेत्र के लोगों की प्राथमिक जरूरत गोसंवर्धन जैसा कार्यक्रम कैसे हो सकता है। खेतिहार मजदूरों या गरीब किसानों की प्राथमिकता क्या है, यह समझने के उद्देश्य से हमने खेतों पर मजदूरी कर रहे कुछ मजदूरों से पूछा, 'मान लीजिए कि सरकार आपकी गरीबी दूर करने के लिए कुछ करना चाहे तो आप सरकार से क्या मांग करेंगे?' उनमें से एक ने सामने की वीरान पहाड़ी की तरफ इशारा करके कहा कि बहुत ही अच्छा हो यदि उस पहाड़ी पर जंगल लगा दिया जाए। उन्हीं में से एक अन्य व्यक्ति ने सुझाया कि महुआ जैसी वनोपज के ठेके छोटे—छोटे हिस्सों में बांट कर बैंकों से ऋण दिलवा कर सीधे गरीब लोगों को दिए जाएं ताकि उत्तर भारत के बड़े—बड़े ठेकेदार उस क्षेत्र की दौलत लूट कर न ले जा पाएं। एक तीसरे व्यक्ति ने कहा कि बड़े किसानों की वह खाली पड़ी हुई अतिरिक्त सरकारी जमीन को भूमिहीन लोगों में बांट देना चाहिए। उनमें से एक ने भी गोसंवर्धन या पशु विकास कार्यक्रम का ज़िक्र तक नहीं किया। अब आप ही सोचिए

कि भुवनेश्वर में हमें दी गई जानकारी का आधार क्या रहा होगा। जब हमने सरकारी विशेषज्ञों का फिर कुरेदा तो उन्होनें झुंझलाकर कहा कि आप तो 'गलत लोगों' से बात कर रहे हैं। वे हमें उस इलाके के कुछ संपन्न किसानों के घर ले गए जहां हमारी खूब खातिरदारी हुई और हमसे कहा गया कि हम नई दिल्ली की सरकार को इस इलाके में एक अच्छा सा गोसंवर्धन कार्यक्रम चलाने का सुझाव दें।

समाज विज्ञान में अवलोकनों में अंतर क्यों हो जाता है, यह बात शायद इस उदाहरण से कुछ उभर पाई हो। यदि संपन्न किसानों, सरकारी विशेषज्ञों तथा अन्य निहित स्वार्थों के नज़रिए से देखा जाए तो उच्च तकनॉलॉजी व बड़े बजट वाले आर्थिक विकास के कार्यक्रम ग्रामीण इलाकों की प्राथमिकता लगने लगते हैं। परंतु जब इसी समस्या को भयंकर गरीबी के आईने से देखा जाए तो प्राथमिकता वर्तमान स्रोतों के पुनर्वितरण और उनके उपयोग तथा प्रबंधन की प्रणाली को बदलने की बन जाती है। हमारे पास ढेरों सबूत हैं, जिनसे पता चलता है कि अवलोकनों में ऐसे अंतर समाज पर हावी निहित स्वार्थों के कारण हैं। वैज्ञानिक पद्धति का प्रशिक्षण इस मामले में आखिर क्या कर सकता है?

हमारा अनुभव रहा है कि जब भी आर्थिक हितों और राजनीतिक सत्ता का सवाल उठता है तो वैज्ञानिक पद्धति की सीमाएं अपने–आप आ जाती हैं। हमने इस विषय की गहराई में उतरकर पूरी बात समझने की कोशिश की है और हमें यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ है कि अवलोकनों में होने वाले ऐसे अंतरों का ग्रामीण विकास की प्रमुख दिशा और प्राथमिकताओं पर किस कदर असर पड़ता है। हमें इस गड़बड़ी का पहला अहसास अपने ही एक अनुभव से हुआ। 1972 में हमने बनखेड़ी प्रखंड में गोसंवर्धन का एक छोटा सा कार्यक्रम शुरू किया जिसके तहत एक उत्तम नस्ल के संकर सांड की सेवाएं उपलब्ध करा दीं। उस समय पशु विकास के कुछ अग्रणी विशेषज्ञों ने हमें सलाह दी कि ग्रामीण बेरोजगारी की भयंकर समस्या से जूझने और उसे हल करने के लिए 'संकर गाय पालने से बेहतर कोई और कुटीर

उद्योग नहीं है।' हमें बार–बार बताया जाता था कि गुजरात के खेड़ा जिले में अमूल और महाराष्ट्र के पुणे जिले के उरुलिकांचन गांव में स्थित भारतीय कृषि उद्योग प्रतिष्ठान जैसी संस्थाओं को दूध उद्योग के माध्यम से ग्रामीण विकास करने में कितनी सफलता मिली है। इस कार्यक्रम को तीन साल चलाने के बाद हम लोगों ने आंकड़े इकट्ठे करके यह समझने का प्रयास किया कि संकर गायों का लाभ किस तबके के लोगों तक पहुंचा था।

हमें पता चला कि इस कार्यक्रम का लाभ उठाने वाले अधिकतर लोग संपन्न किसान और पास के एक शहर के धनी वकील, व्यापारी इत्यादि थे। कुछ मध्यमवर्गीय किसानों ने भी इसका लाभ उठाया, परंतु एक भी गरीब किसान या खेतिहर मजदूर इसका लाभ नहीं उठा पाया। ऐसा कार्यक्रम गरीबी दूर करने में कैसे मददगार होगा यह हमारी समझ के परे था। अपने इन आंकड़ों से हम इतने परेशान हुए कि हमने होशंगाबाद जिले में ही गोसंवर्धन कार्यक्रम में कार्यरत एक अन्य संस्था के आंकड़ों का विवेचन किया। हमारे क्षेत्र की तुलना में इस संस्था के लिए शहर के निकट होने के कारण दूध बिक्री तथा सिंचित क्षेत्र के बीच में होने के कारण हरे चारे जैसी समस्याओं का हल ढूढ़ंना अधिक आसान था। इसके बावजूद हमने पाया कि इस संस्था के और हमारे अनुभव लगभग एक जैसे थे। परंतु उस दौरान अखबारों में लगातार ऐसी रपटें छप रही थीं और देश भर में ग्रामीण विकास की गोष्ठियों में सुनने को मिलता था कि एक सुप्रसिद्ध संस्था का यह दावा था कि गोसंवर्धन का लाभ गांव के हर तबके को समान रूप से मिलता है। सचाई का पता लगाने के लिए हमने खोजबीन शुरू की। हमने इस संस्था के कृत्रिम गर्भाधान केंद्रों पर रखे हुए रजिस्टरों को देखा। इस संस्था द्वारा सार्वजनिक रूप से किए जा रहे दावों और उनके रजिस्टरों के आंकड़ों में जमीन–आसमान का अंतर पाया। यहां भी गांवों का गरीब तबका गोसंवर्धन कार्यक्रम के दायरे से बाहर छूट गया था। फिर आखिर देश की यह संस्था और अनेक महत्वपूर्ण सरकारी एजेंसियां गोसंवर्धन या संकरीकरण कार्यक्रम को

गांव की गरीबी दूर करने के लिए रामबाण के रूप में क्यों प्रस्तुत करती रहती हैं? क्या कभी आपको आम तौर पर यह विवेचन पढ़ने या सुनने को मिलता है कि गोसंवर्धन कार्यक्रम का असर गांव के अलग–अलग वर्गों पर अलग–अलग है।

ऐसा लगता है कि सामाजिक अध्ययनों में जानबूझकर कुछ खास तरह के अवलोकनों को या तो दबा दिया जाता है या उन्हें तोड़–मरोड़कर प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रवृत्ति के अनेक प्रमाण मिल रहे हैं। उदाहरण के लिए पिछले वर्ष आकाशवाणी भोपाल ने मेरा एक साक्षात्कार लिया। इस साक्षात्कार के दौरान मैंने किशोर भारती के गोसवंर्धन कार्यक्रम के अनुभव सुनाए, जो दो हिस्सों में थे। पहले हिस्से में मैंने हमारे कार्यक्रम से लाभान्वित लोगों की संख्या के आंकड़े दिए और हरा चारा उगाने व पशुओं की देख–रेख की जानकारी फैलाने के विषय में किए गए अपने प्रयासों से अवगत कराया। वक्तव्य के दूसरे हिस्से में मैंने आंकड़े देकर यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार इस कार्यक्रम से गांव की गरीबी दूर करने के उद्द्श्य की पूर्ति नहीं होती। एक सप्ताह बाद जब आकाशवाणी पर टेप किया हुआ यह साक्षात्कार प्रसारित हुआ, तब उसे सुनकर हम सब भौंचक्के रह गए। मेरे वक्तव्य का पहला हिस्सा जिसमें मुख्यतः उपलब्धियों की बात हुई थी प्रसारित किया गया, परंतु दूसरा हिस्सा बहुत सफाई से दबा लिया गया। वैज्ञानिक अवलोकनों को दबाने का यह एक सटीक उदाहरण था। इस उदाहरण से शायद ओडिशा वाले अनुभव को समझने में मदद मिले। स्पष्ट है कि समस्या वैज्ञानिक पद्धति की कमी की नहीं है। यहां यह मुद्दा निहित स्वार्थों से टकराव का है जिसके कारण वैज्ञानिक प्रक्रियाएं रुक जाती हैं, आगे नहीं बढ़ पातीं।

अभी तक हमने वैज्ञानिक अवलोकन की बात की है। इसके अलावा वैज्ञानिक पद्धति का एक अन्य पहलू है तार्किक चिंतन। समाज विज्ञान में तार्किक चिंतन की भूमिका को समझने की जरूरत है। एक बार फिर मैं आपके सामने अपना एक अनुभव रखता हूं। 1972 में गोसवंर्धन कार्यक्रम के साथ–साथ हमने उस इलाके में सिंचाई के कुएं खोदने

की एक नई तकनीक की शुरूआत की। यह तकनीक रिंग के कुओं के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे कुओं को बनाने के लिए पहले से बनी–बनाई सीमेंट कंकरीट की रिंगों को जमीन खोदकर एक के ऊपर एक रखकर तब तक बिठाते चले जाते हैं जब तक कि नीचे पानी का स्रोत न मिल जाए। नलकूप की तुलना में रिंग के कुएं ग्रामीण इलाकों के लिए अनुकूल तकनालॉजी के उपयुक्त उदाहरण हैं चूंकि ये न केवल सस्ते पड़ते हैं और महज दो हफ्तों में तैयार हो जाते हैं बल्कि तकनीकी दृष्टि से गांव के लोगों की पहुंच के भीतर हैं।

हमारे काम के फलस्वरूप बनखेड़ी प्रखंड और आसपास के इलाके के 100 से भी अधिक गांवों में रिंग के कुओं का प्रसार हुआ है और आज लगभग ऐसे 450 कुओं से करीबन 5,000 एकड़ जमीन की सिंचाई हो रही है। इससे न केवल इस एकफसली क्षेत्र में अब दो या तीन फसलें उगाई जाने लगी हैं बल्कि रोजगार भी बढ़ा है। ग्रामीण विकास की आम समझ के अनुसार ये आशाजनक परिणाम थे। इसके बावजूद हम लोगों ने रिंग के कुओं के असर का और गहराई से विवेचन किया। इस अध्ययन से पता चला कि रिंग के कुओं के कारण 1977 में इस इलाके के वार्षिक कृषि उत्पादन में साढ़े बारह लाख रुपए की वृद्धि हुई। इस अतिरिक्त वार्षिक आय में से लगभग साढ़े नौ लाख रुपए कुओं के मालिक 300 किसानों को मिले, जबकि शेष तीन लाख रुपया लगभग 2,000 खेतिहर मजदूरों में बंटा। स्पष्ट है कि मुट्ठी भर किसानों को अतिरिक्त आय का एक बड़ा अंश मिला जबकि थोड़ा सा अंश बहुत सारे खेतिहर मजदूरों में बंटा। हमने इससे यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि रिंग के कुओं से यह इलाका समृद्ध हुआ है, परंतु इससे गरीबी और अमीरी की खाई और बढ़ी है।

रिंग के कुओं की तकनीक का विकास होशंगाबाद शहर के पास स्थित मित्र मंडल केंद्र रसूलिया नामक संस्था ने लगभग 20 वर्ष पहले किया था। यह तकनीक होशंगाबाद के आसपास के ग्रामीण इलाके में तेजी के साथ फैली परंतु अन्यान्य कारणों से 1972 तक इसका फैलाव होशंगाबाद जिले के पूर्वी क्षेत्र में नहीं हो पाया था।

रिंग के कुओं का सामाजिक प्रभाव भी विचारणीय है। हमने देखा कि जो छोटे किसान कुओं के मालिक बनने के पहले गरीब तबके के साथ सहानुभूति रखते थे, उनकी सहानुभूति में कुओं के मालिक बनने के बाद महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। उन्होनें न केवल गरीब लोगों के साथ उठना–बैठना कम कर दिया और मध्यमवर्गीय व बड़े किसानों के साथ संबंध बढ़ाना शुरू कर दिया, बल्कि अपने पड़ोसी गरीब किसानों तथा बटाई पर खेती करने वाले मजदूरों को महंगे से महंगे भाव पर पानी बेचा। 1976 में एक बार गांव के बहुत सारे लोग मिलकर हमारे पास आए और उन्होनें गांव के अंदर बस्ती में बिजली लगवाने के काम में हमारी सलाह मांगी। हमने इस सामूहिक प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने की कोशिश की परंतु जैसे ही ग्राम पंचायत से सहयोग पाने में कुछ दिक्कतें आईं तो कुछ लोगों ने जल्दी से अपने घरों में निजी कनेक्शन अलग से लगवा लिए। खोज करने पर पता चला कि जिन लोगों ने सामूहिक प्रयास से अपने को अलग करके अपना काम करवा लिया था, उनमें अधिकांश वे लोग थे जिन्होंने हाल ही में रिंग के कुओं से खूब पैसा बनाना शुरू कर दिया था।

कुछ ज्यादा समर्थ लोगों के अलग हो जाने से पंचायत से सहयोग पाने की सामूहिक प्रक्रिया कमजोर पड़ गई। परिणाम यह हुआ कि गांव के गरीब किसानों तथा मजदूरों के मुहल्ले आज भी दिन ढलने पर अंधेरे में डूब जाते हैं। उस समय रिंग के कुओं वालों के जगमगाते घर कृषि विकास की दिशा पर बुनियादी सवाल खड़े कर देते हैं। दो माह पहले जब इसी गांव में एक मजदूर संगठन बना तब रिंग के कुओं वालों ने इस प्रक्रिया में रत्ती भर सहयोग नहीं दिया। रिपोर्ट तो यह है कि कुछ ने तो सक्रिय विरोध भी किया और सामंतवादी शक्तियों का साथ दिया चूंकि उन्हें डर था कि कहीं संगठन मजदूरी बढ़ाने की मांग न शुरू कर दे। इस प्रकार साफ पता चलता है कि आर्थिक विकास के कार्यक्रम कैसे कुछ अपेक्षाकृत ज्यादा समर्थ गरीब लोगों को गरीबी की रेखा के ऊपर ले जाकर शोषण करने वाली

ताकतों को और मजबूत कर देते हैं तथा गरीब तबके के संघर्ष को कमजोर करते हैं।

गरीबी की समस्या का निराकरण करने में कृषि विकास की सीमा को हमने पहचाना। अतः इस समस्या से जूझने के लिए हमने वैकल्पिक रास्तों की खोज शुरू की। पता लगाने की कोशिश की कि कुटीर उद्योगों के माध्यम से रोजगार पैदा करने की संभावनाएं क्या हैं। इसके लिए ट्यूब लाइट के 'चोक' बनाने व बढ़ईगिरी के काम उठाए। 1974–75 में स्थानीय बाजारों का सर्वेक्षण करके हमने पता लगाया कि साबुन, अगरबत्ती, रस्सी, टीन के बरतन जैसे करीब 20 कुटीर उद्योगों के उत्पादन की कितनी बिक्री हो सकती है। 1976 में यह भी खोज की गई कि बनखेड़ी प्रखंड और आसपास के ग्रामीण बाजारों में देसी जूतों और सिले–सिलाए कपड़ों की कितनी खपत है। इस अध्ययन से पता चला कि 125 गांव और एक लाख आबादी वाले बनखेड़ी प्रखंड में यदि कुल मिलाकर 20–25 प्रकार के कुटीर उद्योग शुरू किए जाएं तो मात्र 100 परिवारों को रोजगार मिल सकेगा। यह तो ऊंट के मुंह में जीरा डालने जैसी बात हुई।

हमने यह भी देखा कि ग्रामीण बाजारों की अधिकांश खरीद–फ़रोख़्त में केवल संपन्न और मध्यम तबके के ही लोग भाग लेते हैं। गरीबों की बहुत बड़ी संख्या होने के बावजूद खरीद–फ़रोख़्त में उनकी भागीदारी बहुत कम होती है। उस समय 10+2 शिक्षा प्रणाली की बहस गरम थी और भारत सरकार का शिक्षा मंत्रालय +2 के चरण में व्यावसायिक प्रशिक्षण की जरूरत पर जोर दे रहा था। एन.सी.ई.आर.टी. भी स्कूली शिक्षा में उत्पादक कामों को जोड़ने की योजना (सोशली यूज़फुल प्रोडक्टिव वर्क) देश भर में क्रियान्वित करने की कोशिश में था। इसी संदर्भ में हमने प्रश्न उठाया कि यदि बनखेड़ी के हायर सेकेंडरी स्कूल में व्यावसायिक प्रशिक्षण शुरू किया जाए तो उसकी संभावनाएं क्या होंगी। सर्वेक्षण से पता चला कि यदि चार–पांच युवकों को विद्युत पंप सेट की मरम्मत का प्रशिक्षण दे दिया जाए तो उन्हें बनखेड़ी तथा

पिपरिया प्रखंडों में साल भर में मात्र कुछ महीने ही काम मिलेगा और उसी में दोनों प्रखंडों की जरूरत पूरी हो जाएगी। इसी प्रकार वर्कशाप और रेडियो मरम्मत के काम में मुश्किल से दो–तीन और युवकों को रोजगार मिलने की संभावना थी। हम आज तक यह नहीं समझ पाए कि शिक्षा मंत्रालय 10+2 योजना के +2 के चरण में और एन.सी.ई. आर.टी. की उत्पादक काम की योजना में किस प्रकार के रोजगार के प्रशिक्षण की कल्पना रही होगी।

हमारे अनुभवों, सर्वेक्षणों और विवेचन से पता चला है कि गांवों में कुटीर उद्योग व व्यावसायिक प्रशिक्षण की सीमित संभावना का आधार, आधुनिक तकनालॉजी की जानकारी की कमी या सीखने की क्षमता की कमी या प्रबंधन करने की कुशलता की कमी जैसे कारण नहीं हैं, वरन् इसका आधार बाजार में माल बिक पाने की सीमा है। गरीबी रेखा के नीचे बसर करने वाले लोगों की सीमित क्रय शक्ति और गांव के बाजारों पर शहरी बड़े उद्योगों द्वारा निर्मित सामान का प्रभुत्व ऐसे कारण हैं जो ग्रामीण बाजारों की सीमाएं तय कर देते हैं। यह सारी कड़वी सच्चाई आंखों के एकदम सामने होने के बावजूद आज तक सरकारी और कई स्वैच्छिक संस्थाओं ने ग्रामीण विकास में कुटीर उद्योगों तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण की भूमिका को बढ़ा–चढ़ाकर बताना बंद नहीं किया है।

पिछले कई दशकों से देश के इस यथार्थ की इतने सारे विशेषज्ञों, नेताओं तथा संस्थाओं ने लगातार अवहेलना क्यों की है? क्या कारण है कि गरीबी के निराकरण में कुटीर उद्योगों की इस सीमित भूमिका को सार्वजनिक रूप से स्वीकारा नहीं जा रहा है? इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर योजना आयोग की रहस्यमय चुप्पी का क्या कारण हो सकता है? क्या यह संभव है कि इस तरह का तार्किक विवेचन देश के शिक्षित व अभिजात तबके और राष्ट्र–स्तरीय नेताओं के बस के बाहर की बात है या सच्चाई कुछ और है? कहीं सच्चाई यह तो नहीं कि पूरे अभिजात और शासक वर्ग के लिए आज के सामाजिक तथा आर्थिक संकट और

बढ़ती हुई गरीबी जैसी विकट समस्याओं के वैज्ञानिक आधार को स्वीकार कर लेना अपने निहित स्वार्थों को स्वयं चोट पहुंचाना होगा?

इस चर्चा में हमारी प्रमुख चिंता यह नहीं है कि गोसंवर्धन, सिंचाई, कुटीर उद्योग या व्यावसायिक प्रशिक्षण जैसे कार्यक्रम भारत की गरीबी दूर करने के लिए उपयुक्त साधन हैं या नहीं। परेशानी तो इस बात से है कि कई दशकों के अनुभव के बाद भी ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों की सीमा के बारे में एक विवेचनात्मक दृष्टिकोण आम जनता से छिपाया जा रहा है। अपने कुछ ही वर्षों के अनुभव से हमें समझ में आ गया है कि गांव का समाज एक विखंडित समाज है। एक ओर तो बड़े तथा मध्यमवर्गीय किसान, साहूकार और व्यापारी हैं जो समस्त विकास कार्यक्रमों का लाभ हथिया लेते हैं और इसीलिए ऐसे कार्यक्रमों की मांग तथा समर्थन करते हैं। दूसरी ओर खेतिहर मजदूर, गरीब किसान तथा छोटे–मोटे कारीगर हैं जो विकास की प्रक्रिया के दायरे के बाहर छूट जाते हैं। योजना आयोग एवं भारत सरकार के उद्योग, ग्रामीण विकास और विज्ञान तथा तकनॉलॉजी जैसे विभागों द्वारा बनाई गई लुभावनी योजनाओं का इस गरीब वर्ग के जीवन से कुछ लेना–देना नहीं है। जब कभी कोई ग्रामीण विकास की पैरवी करता है तो हमारा उससे तत्काल पूछने का मन करता है कि वह किसके विकास की पैरवी कर रहा है – मुट्ठी भर संपन्न लोगों की या गांव की आम गरीब जनता की? योजना बनाने वाले विशेषज्ञ और नेतागण इस स्पष्ट विवेचन को नकार कर विकास के नाम पर समाज में भ्रम फैलाते हैं और गांव और शहर की खाई, विकेंद्रीकरण, सहकारिता, सामुदायिक योजना, पंचायती राज तथा जन सहयोग जैसी बातें दोहराकर देश को इस भुलावे में रखते हैं कि गरीबी दूर करने के लिए बहुत कुछ हो रहा है। ऐसा लगने लगता है कि विकास के इन तकियाकलामों का उपयोग करके जानबूझकर यह धारणा फैलाई जा रही है कि गांव के समाज में एकरूपता है और जैसे कि शहर में गरीब व गांव में अमीर नहीं रहते। हमारा यह मत है कि जब तक भारत में विकास की योजनाओं के अनुभवों के वैज्ञानिक विवेचन को टाला या दबाया

जाएगा, तब तक न तो विकास की सार्थक योजनाएं ही बन पाएंगी और न ही गरीबी दूर होगी।

जब कभी भी तार्किक चितंन या वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बात उठती है, तब शिक्षित कहे जाने वाले अभिजात् वर्ग के लोग अधिकतर यह कहते हुए पाए जाते हैं कि 'ये अनपढ़ और गंवार लोग इन बातों को क्या समझेंगे', जैसे कि वैज्ञानिक सोच केवल उनकी बपौती हो।' इन्हीं अनपढ़ और गंवार कहे जाने वाले लोगों के बीच काम करके हमें पता चला है कि ऐसी धारणाएं कितनी निराधार हैं। इस संबंध में मुझे खादी ग्रामोद्योग कमीशन के उस प्रतिनिधि की याद आती है जो मुझे कुछ वर्ष पहले अचानक एक बैंक में मिल गए थे। वह काफी परेशान दिख रहे थे। पूछने पर उन्होंने बताया कि उनकी उस समय प्रमुख जिम्मेदारी कुम्हारों को विद्युत चालित चाक, यानी पावर चाक की सुविधा दिलवाना है। उनकी परेशानी का कारण यह था कि उनकी मेहनत के बावजूद एक भी कुम्हार ने पावर चाक में रुचि नहीं दिखाई। यद्यपि उन्होंने कुम्हारों को आकर्षित करने के लिए पावर चाक की कीमत में छूट, कम ब्याज पर ऋण, प्रशिक्षण, बिजली कनेक्शन इत्यादि सब तरह की सुविधाएं दिलवाने का आश्वासन दिया था। मैंने उनसे पूछा कि उनकी दृष्टि में पावर चाक जैसी अनुकूल तकनॉलॉजी भी कुम्हारों में लोकप्रिय क्यों नहीं हो पा रही है। उन्होंने तुरंत उत्तर दिया कि इस जिले के लोग अनपढ़ व पिछड़े हुए हैं और आधुनिक तकनॉलॉजी के फायदों को समझते नहीं है। यह बिलकुल उसी तरह का निष्कर्ष था जिसे शिक्षित और उच्च वर्ग में व्यापक मान्यता मिली हुई थी।

उनके साथ बात आगे बढ़ाने पर पता चला कि वे जानते थे कि इस जिले के कुम्हार साधारण चाक पर बनाए हुए सारे बरतन बेच नहीं पाते और इसलिए उन्हें अकसर उत्पादन का काम रोक देना पड़ता था। तब मैंने उनसे पूछा कि वे ही समझाएं कि जब कुम्हार साधारण चाक से निर्मित सामान को नहीं बेच पाता, तो वह ऐसे चाक का क्या

करेगा जिससे उत्पादन और भी बढ़ जाएगा। आखिर कुम्हार की समस्या असल में क्या है – मिट्टी के बरतन बेचने की या उनका उत्पादन बढ़ाने की? खादी ग्रामोद्योग कमीशन के प्रतिनिधि धीरे–धीरे बात पकड़ने लगे थे। उनकी समझ में आने लगा था कि कमीशन के द्वारा प्रस्तुत अनुकूल तकनॉलॉजी का यह उदाहरण वास्तव में अनुकूल नहीं था। अनपढ़ कुम्हारों ने स्वयं ही अपनी परिस्थिति का विवेचन करके यह समझ लिया था कि उनकी आय न बढ़ पाने के कारण क्या हैं और इसीलिए उनके पास पावर चाक की उपयोगिता का आकलन करने के लिए सही आधार था। इतनी सीधी सी बात भी खादी कमीशन के विशेषज्ञ समझ नहीं पा रहे थे।

अब हाल ही की एक और घटना पर विचार करें। दो माह पहले हमारे नजदीक के एक गांव से लगभग 100 भूमिहीन मजदूर और गरीब किसान हमारे पास अपनी गरीबी से छुटकारा पाने के रास्ते ढूंढ़ने आए थे। उन्होंने जमीन, वनोपज के अधिकार और सरकारी शक्कर के सही वितरण की मांग की। उन्होंने संगठित होकर सामंतवादी शक्तियों के प्रभुत्व को चुनौती देने का निर्णय किया। हमने उन्हें याद दिलाया कि उनके इस रास्ते में कितने बड़े जोखिम हैं और किस प्रकार स्थानीय जमींदार, सरकारी अधिकारीगण और पुलिस सब मिलकर उनके इस प्रयास को खत्म कर सकते हैं। वे लोग यह सब खूब अच्छी तरह जानते थे। तब हमने उनसे यह जानने की कोशिश की कि इस सामंतवादी गठबंधन का मुकाबला करने के लिए उनके पास क्या ताकत थी। इस पर उनके एक मुखिया ने, जो दस्तखत तक करना नहीं जानता था, कहा, 'हम उगात हैं, वे खात हैं। हम उगाना बंद कर दें तो वे भूखे मर जाएं। यही हमारी ताकत है।' हमारे पास ऐसे ढेरों अनुभव हैं जिनसे पता चलता है कि गरीब और शोषित लोगों में विवेचनात्मक प्रक्रिया में भाग लेने की गजब की क्षमता होती है और अपने विकास के रास्ते में आने वाले अवरोधों को वे खूब अच्छी तरह पहचानते हैं।■

उभरती परिकल्पनाएं

मैंने अभी तक जो कुछ कहा है, उससे पांच प्रमुख परिकल्पनाएं उभरती हैं। ये परिकल्पनाएं इस उम्मीद से प्रस्तुत कर रहा हूं कि इनके आधार पर और इनको परखने के लिए अन्य लोग प्रयास करेंगे और अपने अनुभव इकट्ठे करेंगे:

- सही अवलोकन और वैज्ञानिक विवेचन हमारे आसपास के सामाजिक तथा राजनीतिक यथार्थ को समझने के लिए आवश्यक साधन हैं।
- समाज विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन कई नज़रियों से किया जाता है। यथार्थ का कौन सा पहलू किसे दिखेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि देखने वाले की अपनी पृष्ठभूमि क्या है। इसकी तुलना में विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन और विवेचन करने की प्रक्रिया कार्यकर्ता की मात्र वैज्ञानिक समझ पर निर्भर करती है। उसकी वर्ग या जाति की पृष्ठभूमि पर नहीं।[2]
- विज्ञान में सही अवलोकन और विवेचन करने की क्षमता प्रशिक्षण द्वारा विकसित की जा सकती है। परंतु समाज विज्ञान में यह हमेशा संभव नहीं होता क्योंकि बात निहित स्वार्थों के टकराव तक पहुंच जाती है। इस प्रकार समाज विज्ञान में कई ऐसे मुद्दे हैं

---

[2]लेखक का मतलब यहां पर उन अनुसंधानों से है जिनका उद्देश्य प्राकृतिक विज्ञान के किसी विषय को गहराई से समझने के लिए उसके सिद्धांतों की खोज करना और ज्ञान बढ़ाना होता है। परंतु विज्ञान में एक और श्रेणी के अनुसंधान किए जाते हैं जिनका उद्देश्य यह खोजना होता है कि विज्ञान के सिद्धांतों और ज्ञान का उपयोग समाज की जरूरतों के लिए कैसे किया जाए। जैसे ही इस दूसरी श्रेणी (एप्लाइड विज्ञान या प्रौद्योगिकी) के अनुसंधानों का सवाल उठता है वैसे ही वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा और वस्तुनिष्ठता पर निहित स्वार्थों तथा वर्ग, जाति व सामाजिक लिंगभेद (जेंडर) की पृष्ठभूमि का असर उसी तरह से झलकने लगता है जैसा कि हम सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में देख चुके हैं। वैसे तो अब यह भी सवाल उठ रहा है कि प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी सैद्धांतिक शोध और ज्ञान सृजन की प्रक्रिया किस हद तक शोधकर्ता की पृष्ठभूमि से स्वतंत्र है और निष्पक्ष कही जा सकती है। [जून 2015]

जिनके कारण वैज्ञानिक पद्धति को लागू करने की सीमाएं आ जाती हैं।

- वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का उपयोग करने की क्षमताएं केवल शिक्षित व अभिजात तबके तक ही सीमित नहीं हैं। अनपढ़ व शोषित लोगों में भी ये क्षमताएं होती हैं और प्रशिक्षण तथा अनुभव द्वारा उन्हें और आगे बढ़ाया जा सकता है।
- समाज के विकास के लिए सार्थक और उपयोगी योजनाएं तभी बन सकती हैं जब योजना बनाने वाले विशेषज्ञ शोषित लोगों के साथ जुटकर वैज्ञानिक पद्धति सीखेंगे। यदि ऐसा नहीं किया गया तो विकास तथा सामाजिक परिवर्तन के वर्तमान कार्यक्रमों और शोषित लोगों के जीवन के बीच की खाई कभी नहीं पटेगी।■

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(ज) वैज्ञानिक मानस, मानवतावाद और ज्ञान की खोज व सुधार की भावना का विकास करे; . . .

– भारत का संविधान
भाग 4क, अनुच्छेद 51क

शिक्षा की परिभाषा

इन परिकल्पनाओं से हमें जन आंदोलनों में विज्ञान की भूमिका समझने में मदद मिलती हैं। हमारी आज की समझ के अनुसार विज्ञान की प्रमुख भूमिका शोषित लोगों को अपने सामाजिक तथा आर्थिक यथार्थ को वैज्ञानिक पद्धति से समझने के लिए तैयार करने में है ताकि विकास और न्याय के लिए उनके संघर्ष ठोस आंकड़ों व तार्किक चिंतन पर आधारित हों। अतः वैज्ञानिक पद्धति को अधिक से अधिक लोगों तक ले जाने की प्रक्रिया ही सही शिक्षा है जिससे लोग अपने विकास के अवरोधों को पहचान सकें और न्याय के लिए अपने संघर्षों को और मजबूत कर पाएं।[3]

यदि जन आंदोलन में विज्ञान की यह भूमिका और शैक्षणिक प्रक्रिया की यह परिभाषा मान ली जाए तो कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण और जन संगठन बनाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति को व्यापक रूप से फैलाना जरूरी होगा। इस सैद्धांतिक समझ का व्यावहारिक रूप क्या होगा? इस दिशा में जो काम हुए हैं, उनसे क्या सीखा जा सकता हैं? शैक्षणिक प्रक्रिया को विकसित करने में क्या अवरोध आते हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर ढूंढने के लिए हमें पहले यह समझ लेना चाहिए कि वैज्ञानिक पद्धति के अलग–अलग तत्व क्या हैं। जिज्ञासा, अवलोकन, आंकड़ें इकट्ठे और व्यवस्थित करना, विवेचन करना और निष्कर्ष निकालना इत्यादि ये सब वैज्ञानिक पद्धति के ऐसे तत्व हैं जिनके आधार पर शैक्षणिक कार्यक्रम विकसित किए जा सकते हैं। आइए, इस

---

[3]इस आलेख के प्रकाशन के बाद के अनुभव बताते हैं कि सामाजिक प्रश्नों के संदर्भ में वैज्ञानिक पद्धति की सीमा को विधिवत समझने की जरूरत है। शोध और ज्ञान सृजन की अन्य पद्धतियों जैसे भावात्मक, इतिहास–बोध, सहज–बोध (इंट्यूशन) आदि की भूमिका का महत्व समझना जरूरी है और इसके साथ वैज्ञानिक पद्धति का संतुलन स्थापित करना भी। इस संर्दभ में मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार उत्पादन–संबंधों व वर्ग–चेतना के सवालों पर गौर करना जरूरी होगा। भेदभाव पर टिकी हुई भारत की वर्ण–व्यवस्था का तकाज़ा है कि इन सवालों को भेदभाव के विभिन्न कारकों – जाति, सामाजिक लिंगभेद (जेंडर), भाषा, क्षेत्र, विकलांगता आदि – से जोड़कर समझा जाए। [जून 2015]

बात को हम एक ठोस उदाहरण द्वारा समझें। गत वर्ष दिसंबर में हमने गांव में टी.बी. (क्षय रोग) की समस्या को लेकर एक युवा शिविर का आयोजन किया। शिविरार्थियों की कई टीमें बनाई गईं। इन टीमों ने कई दिनों तक अलग–अलग गांवों में जाकर टी.बी. रोग का सर्वेक्षण किया। उन्होंने पता लगाया कि प्रत्येक गांव में टी.बी. के कितने मरीज हैं और उनका इलाज किस तरह से चल रहा है या नहीं चल रहा। इन युवाओं ने ऐसे परिवारों की कहानियां सुनीं जिनके लगभग सभी सदस्य क्षय रोग से बारी–बारी खत्म हो गए थे। उन्होंने उन मरीजों से यह भी पता किया कि इन दर्दनाक परिस्थितियों में सरकारी और निजी डाक्टरों की क्या भूमिका रही और भारत सरकार के राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम का गांव तक, खासकर गरीब तबके तक पहुंचते–पहुंचते क्या रूप रह गया। इसके अलावा शिविरार्थियों ने क्षय रोग के फैलाव और इसके रोजगार तथा गरीबी के साथ संबंध पर जानकारी इकट्ठी की। साथ–साथ उन्हें क्षय रोग का इलाज करवाने के सिलसिले में किस प्रकार की सामाजिक दिक्कतें आती हैं, इस विषय पर भी ढेर सारे आंकड़े मिले। इन सभी आंकड़ों को संकलित करके उन पर विवेचनात्मक चर्चा हुई।

प्रत्येक दल ने अपने–अपने आंकड़ों के आधार पर सर्वेक्षण में पाई गई समस्याओं की एक–एक सूची तैयार की। इन टीमवार सूचियों के आधार पर चर्चा करके एक बड़ी सूची बनाई गई जिससे कुछ सामान्य मुद्दे उभरे। क्षय रोग के बारे में बात तक करने की सामाजिक मनाही पाई गई। यह रोग अधिकतर गरीब परिवारों में देखा गया, सरकारी तथा निजी डॉक्टर मिलकर मरीज और उसके परिवार को लूट–खसोट लेते थे, इस लूट–खसोट को सामंतवादी शक्तियों तथा अन्य बड़े लोगों का समर्थन प्राप्त था और महत्वपूर्ण बात यह निकली कि राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम से क्षय रोगियों को कोई खास लाभ नहीं मिल रहा था। इसके बाद राष्ट्रीय कार्यक्रम का लाभ गरीब तबके तक

न पहुंच पाने के कारणों का विवेचन हुआ और इससे समाज के ढांचे के बारे में आंखें खोल देने वाली एक समझ उभरी।

इस पूरी वैज्ञानिक प्रक्रिया के बाद शिविरार्थी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम के रहते हुए एक नई समानांतर चिकित्सा सेवा शुरू करने का कोई महत्व नहीं है क्योंकि उसकी सीमाएं भी उसी प्रकार आ जाएंगी। यह निर्णय हुआ कि सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण वह कार्यक्रम होगा जिसमें राष्ट्रीय कार्यक्रम के तहत मिल सकने वाली इलाज की सुविधाओं की जानकारी फैलाई जाए ताकि गरीब लोग अपने अधिकारों की मांग के लिए संघर्ष कर सकें। शैक्षणिक प्रक्रिया के इस उदाहरण से साफ उभरता है कि कुछ युवाओं ने कैसे अपने अनुभवों पर वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करके अपना अगला कार्यक्रम तय किया।■

शैक्षणिक प्रक्रिया में अवरोध

वैज्ञानिक पद्धति को शोषित लोगों के बीच फैलाने के प्रयास में हमें निम्नलिखित पांच अवरोधों का सामना करना पड़ा है :

1. जानकारी की कमी
2. रूढ़ियों से बंधे रहने की प्रवृत्ति
3. भाग्य पर भरोसा
4. निहित स्वार्थों द्वारा हमले का डर
5. अमूर्त चिंतन की क्षमता की कमी।

आइए, अब हम बारी–बारी से इन पर विचार करें।

यह एक आम अनुभव रहा है कि शोषित लोगों द्वारा अपने यथार्थ को समझने की प्रक्रिया अकसर जानकारी की कमी के कारण आगे नहीं बढ़ पाती। जब यह कमी पूरी कर दी जाती है तब यथार्थ को समझने की क्षमता फिर से तेजी के साथ विकसित होने लगती है। इसका एक बहुत प्रभावशाली उदाहरण कालीकट जिले में केरल शास्त्र साहित्य परिषद् (या केवल परिषद्) के काम से मिलता है। कुछ वर्ष पहले परिषद् ने कालीकट जिले के वाळक्काड गांव के पास स्थित माव्वूर इलाके में एक बड़ी रेयान फैक्टरी द्वारा फैलाए गए प्रदूषण का मामला उठाया। यह फैक्टरी चालियार नदी के किनारे है। इसकी रसायनों से भरी हुई गंदगी नदी में फेंक दी जाती थी और चिमनी द्वारा खतरनाक गैसें हवा में फैलती रहती थीं। इस प्रकार फैक्टरी के कारण जल और हवा के प्रदूषण की भयंकर समस्या खड़ी हो गई थी। इस प्रदूषण का वाळक्काड गांव के लोगों के स्वास्थ्य और उनकी खेती दोनों पर बहुत बुरा असर पड़ा रहा था। इसके बावजूद कई सालों तक वहां के गरीब लोग इस स्थिति को चुपचाप सहते रहे। परिषद् ने कालीकट मेडीकल कालेज के विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करके उस गांव के लोगों के स्वास्थ्य का सर्वेक्षण करवाया।

सर्वेक्षण से पता चला कि वहां बहुत से लोगों को फेफड़े की एक विशेष बीमारी है जो हवा में सल्फर डाइआक्साइड और कार्बन मोनोआक्साइड की मात्रा बढ़ने से हो जाती है। परिषद् ने तब वहां प्रदूषण का अध्ययन करने के लिए जैव–वैज्ञानिकों, रसायनशास्त्रियों, भूगर्भशास्त्रियों और इंजीनियरों का एक दल भेजा। इस टीम के लोगों ने प्रदूषण की समस्या पर एक लंबी–चौड़ी रपट तैयार की और नदी के प्रदूषित हिस्सों के रंगीन चित्र उतारे। इसके अलावा इस टीम ने प्रदूषण की समस्या पर नियंत्रण पाने के लिए एक तकनीकी योजना बनाई। परिषद् का अगला कदम वाळक्काड गांव में सायंकालीन कक्षाएं लगाना था जिसमें उन्होंने डॉक्टरों और तकनीकी टीम के द्वारा इकट्ठी की हुई जानकारी गांव के गरीब लोगों तक पहुंचाई। गत वर्ष जब हम वाळक्काड पहुंचे तो यह देखकर दंग रह गए कि सल्फर डाइआक्साइड, कार्बन मोनाआक्साइड, प्रतिशत और घुलनशील जैसे तकनीकी शब्द वहां के अनपढ़ लोगों की रोजमर्रा की बातचीत का अंग बन चुके थे। सायंकालीन कक्षाओं का असर यह हुआ कि वाळक्काड गांव के लोगों ने संगठित होकर फैक्टरी के मालिकों से मांग की कि वे परिषद् द्वारा प्रस्तुत तकनीकी योजना को क्रियान्वित करके प्रदूषण दूर करें। वाळक्काड के लोगों के उतार–चढ़ाव से भरे हुए संघर्ष की एक लंबी कहानी है पर इसके आगे फैक्टरी के ताकतवर मालिकों को झुकना पड़ा क्योंकि उनके पास केरल में अपनी साख बचाने के लिए इसके अलावा अन्य कोई तार्किक रास्ता नहीं बचा था। परिषद् की तकनीकी योजना अब क्रियान्वित हो सकती है। वाळक्काड के लोगों ने अपनी पहली लड़ाई जीत ली है।[4]

शैक्षणिक प्रक्रिया में दूसरा अवरोध समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता के कारण उत्पन्न होता है। इसका एक अच्छा उदाहरण हमारे हाल के एक अनुभव से मिलता है। हमारे नजदीक के एक गांव में कुछ सप्ताह

---

[4]कालांतर में बढ़ते जन दबाव के चलते रेयान फैक्टरी के मालिक फैक्टरी बंद करने के लिए मजबूर हुए। [जून 2015]

पहले एक मजदूर संगठन बना। इस बात का ज़िक्र मैं पहले भी कर चुका हूं। हमने मजदूर संगठन के 20–25 सदस्यों के साथ एक शिविर का आयोजन किया। संगठन के लोगों ने शुरू में ही स्पष्ट कर दिया था कि वे शिविर के दौरान अपने जातीय बंधनों के कारण किशोर भारती संस्था में भोजन नहीं करेंगे। इस बात को लेकर बहुत चर्चा हुई और अंत में तय हुआ कि वे भोजन इस शर्त पर करेंगे कि उनके द्वारा ही चुने गए बरौआ (कहार) जाति के लोग सबके लिए भोजन बनाएंगे और परोसेंगे। इस प्रकार शिविर में भोजन की व्यवस्था हुई। कुछ अव्यवस्था के कारण पहले ही दिन नीची माने जानेवाली जाति के कुछ मजदूरों ने खाना बनाने में हाथ बंटा दिया और परोसना भी शुरू कर दिया। इससे मजदूर संगठन के अधिकांश लोग – रज्झड़ और गोंड आदिवासी, बरौआ इत्यादि – आग–बबूला हो गए। उनको लगा कि उनके साथ धोखा हुआ है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी से चली आ रही परंपराओं को यह एक चुनौती थी। एक ने कहा कि हमारा धर्म भ्रष्ट हो गया। दूसरे ने संकेत दिया कि यदि यह खबर फैल गई तो उनको जाति से निकाल दिया जाएगा या पूरे समाज को भोज देना पड़ेगा ('रोटी लग जाएगी')। यह स्पष्ट था कि वे घबराए हुए थे। भय यहां तक बढ़ा कि अब बेटे–बेटियों के शादी–ब्याह में दिक्कत आ सकती है। मामला गंभीर था। हमने इस गलती के लिए माफी मांगी और उनसे पूछा कि वे भोजन व्यवस्था के नियम और पक्के बता दें – आटा गूंथने से लेकर बरतन मांजने तथा पत्तल फेंकने तक के हर काम कौन कर सकता है और कौन नहीं। इस चर्चा में एक और बात भी उभरी कि किशोर भारती टीम के किसी भी सदस्य (चाहे वह कितना ही ऊंचा ब्राह्मण क्यों न हो) के हाथ का खाना वे नहीं खाएंगे क्योंकि हम लोग हर जात के साथ खाना खाकर भ्रष्ट हो चुके हैं। एक नियम और बना। विभिन्न जातियों के लोग एक साथ बैठकर जरूर खा सकते हैं परंतु उन्हें बीता भर जगह छोड़कर (संधि देकर) बिठाना पड़ेगा। ये नियम स्वीकार कर लिए गए और लोग कुछ शांत हुए। परंतु किशोर भारती टीम ने इस निर्णय पर अपना विरोध प्रकट करने के उद्देश्य से

फैसला किया कि हम 'संधि देकर' खाना खाने के बजाए मजदूर संगठन के लोगों के भोजन कर लेने के बाद अलग से भोजन करेंगे। इस फैसले से हमने यह स्पष्ट कर दिया कि यह जातिभेद हमें स्वीकार नहीं था।

एकाध दिन तो गाड़ी इस प्रकार चली। इस बीच धीरे–धीरे सुनने में आने लगा कि कई लोगों को इस बात का बहुत अफसोस है कि उनके नियमों से किशोर भारती के सदस्यों ने परेशान होकर अलग खाना शुरू कर दिया है। एक दिन सबेरे अनपढ़ और गरीब शिविरार्थियों ने इस मामले पर विचार करने के लिए हम लोगों के बगैर एक गोष्ठी की। लगभग सभी ने हमारी भावनाओं को ठेस लगने का ज़िक्र किया। कुछ ने इस जात–पात के नियमों के कारण संगठन के ही नीची मानेवाली जाति के लोगों को भी ठेस पहुंचाने की बात की। अचानक उनमें से कई लोगों ने जात–पात टूटने पर सामाजिक दंड लगने की संभावना पर ही प्रश्न खड़े कर दिए। कई मजदूरों ने ऐसे उदाहरण सुनाए जब जात के बाहर भोजन करने पर 'रोटी नहीं लगी'। एक ने तो यहां तक कहा कि ऐसे भेदभाव करने वाले के खिलाफ कानूनी कारवाई की जा सकती है। अंत में सबको अहसास हुआ कि अब तो वे संगठित हैं – यदि किसी पर दंड लगा भी तो वे सब मिलकर सामना करेंगे। इस बातचीत से हिम्मत बंधी। एक नया फैसला हुआ कि अब वे भोजन तभी करेंगे जब किशोर भारती के सदस्य भी उनके साथ बैठेंगे। दूसरा फैसला हुआ कि नीची माने जानेवाली जाति के लोग भोजन परोस सकते हैं। उस दिन अनपढ़ मजदूरों ने अपनी समझ के आधार पर एक नया नारा दिया – **'हमारी जात गरीबी है'**।[5] जो शैक्षणिक प्रक्रिया जात–पात की परंपरा के कारण

---

[5]निःसंदेह, यह नारा जाति व्यवस्था के पार जाकर नई वर्ग चेतना उभरने का अहसास देता है और परिवर्तनकामी संभावनाओं का संकेत है। इस नारे के ऐतिहासिक महत्व को समझने के लिए हमें फुले–आंबेडकर द्वारा पेश इस निष्कर्ष को आत्मसात करना होगा कि "भारत का इतिहास कुल मिलाकर जाति–संघर्ष का इतिहास है" और इस निष्कर्ष की मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करनी होगी। [जून 2015]

लगभग रुक सी गई थी और जिसे तर्क के आधार पर हम आगे नहीं बढ़ा पाए थे, वही प्रक्रिया आगे तभी बढ़ी जब संगठन के लोगों पर हमारे द्वारा अलग भोजन करने के कारण भावनात्मक असर हुआ जिससे अवरोध टूटा।[6]

आम लोगों का भाग्य में विश्वास शैक्षणिक प्रक्रिया में आने वाला तीसरा अवरोध है। मुझे एक बसोड़ (बांस की वस्तुएं बनाने वाले दलितों की एक जाति) की याद आ रही है जो मुझे दो साल पहले एक दिन उस मौसम में खाली घूमता हुआ मिला जब बसोड़ों के पास अधिकतम काम रहता है। उस समय वन विभाग के स्थानीय डिपो में बांस का पर्याप्त भंडार होना चाहिए था। मेरे पूछने पर उसने बताया कि उस इलाके का सारा बांस बहुत दूर नेपानगर के कागज कारखाने को भेज दिया गया है इसलिए उन्हें बांस उपलब्ध न होने के कारण बसोड़ सभी खाली हैं। इस अनपढ़ बसोड़ के पास इस मामले पर बहुत जानकारी थी। मैंने उससे पूछा, 'क्या कारण है कि कागज का एक कारखाना सारा बांस हथिया लेता है। जबकि हजारों गरीब बसोड़ बिना रोजगार के खाली बैठे रहते हैं।' उसने छूटते ही कहा, 'नेपानगर के कागज कारखाने की ताकत हम सब बसोड़ों की ताकत से ज्यादा है।' मैंने तब पूछा कि क्या उसे कोई ऐसा रास्ता सूझता है जिससे सब बसोड़ मिलकर नेपानगर जाने वाले उनके हिस्से के बांस पर रोक लगवा सकें और अपना अधिकार पा सकें। बसोड़ ने कहा, 'हां, यह जरूर हो सकता है, अगर हम सब बसोड़ एक संगठन बनाकर जंगलवालों से बांस की मांग करें।' कुछ रुककर बसोड़ ने आगे कहा, 'पर ऐसा नहीं होगा। ऐसा संगठन तभी बन सकता है जब भगवान चाहेगा। इस

---

[6]जनशिक्षण के ये सभी अनुभव स्पष्ट संकेत दे रहे हैं कि सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति जरूरी है लेकिन यथेष्ट नहीं है। शोध, ज्ञान, सृजन तथा चेतना जागरण हेतु ज्ञानमीमांसा की अन्य पद्धतियों का महत्व बढ़ते क्रम में उभर रहा है। जब यह आलेख लिखा गया था तब किशोर भारती समूह में यह संतुलित समझ विकसित नहीं हो पाई थी, हालांकि समझ में बदलाव हेतु समूह के अंदर ही विचारधारात्मक संघर्ष शुरू हो चुका था। [जून 2015]

साल हमारे भाग में बांस नहीं है।' सारा मामला भगवान और भाग्य पर आकर अटक गया। उस बसोड़ के पास जानकारी की कमी नहीं थी और उसने तार्किक चिंतन की कई सीढ़ियां भी पार कीं, पर फिर उसकी सीमा आ गई। इस सीमा को उसी सिद्धांत के आधार पर तोड़ा जा सकता है जिसका जिक्र मैंने रूढ़ि वाले अवरोध के संदर्भ में किया था – शैक्षणिक प्रक्रिया में आने वाला हर अवरोध हमेशा मात्र वैज्ञानिक पद्धति से हटाया नहीं जा सकता। ऐसी सीमाएं तभी टूटती हैं जब उन पर किसी घटना या साहसिक काम का भावनात्मक असर होता है। सीमा टूटने पर शैक्षणिक प्रक्रिया को फिर आगे बढ़ाया जा सकता है।[7]

चौथा अवरोध सामंतवादी शक्तियों तथा अन्य निहित स्वार्थों के गठबंधन से डर का है। इस आतंक के असर का अहसास हो पाना तब तक संभव नहीं है जब तक कि शोषित लोगों की जिंदगी को बहुत पास से पहचान न लिया जाए। दो वर्ष पहले हमने पास के एक गांव के रज्झड़ आदिवासियों को एक आर्थिक कार्यक्रम का प्रस्ताव दिया जिसके अनुसार उन्हें कौसम के पेड़ों पर लाख उगाने के अपने पुश्तैनी धंधे को करने का हक मिल सकेगा। इससे पहले कई दशकों से ये आदिवासी दैनिक मजदूरी पर बड़े ठेकेदारों या पटेलों के लिए यह काम करते आए थे। उनका यह पुराना सपना था कि एक दिन वे स्वयं मालिक बनकर लाख उगाएं और अपनी मेहनत का पूरा फल पाएं। परंतु जब अधिकार लेने का मौका आया तो वे पीछे हट गए। बाद में पता चला कि रज्झड़ों के साथ हमारी गोष्ठी तथा प्रस्ताव की खबर गांव के सरपंच (पुराने मालगुजार) तक पहुंच चुकी थी। खबर पहुंचते ही सरपंच ने रज्झड़ों को धमकी दी थी कि यदि उन्होंने लाख उगानी शुरू की तो उन्हें मारा–पीटा जाएगा।

---

[7]देखिए फुटनोट क्रमांक 6. [जून 2015]

अधिकतर रज्झड़ इन मालगुजार परिवारों के आर्थिक दबाव में रहते हैं – कुछ उनसे लिए गए कर्ज से दबे हैं तो कुछ उनकी हरवाही और बटाई करते हैं। इसी कारण से मालगुजार लोग चिंतित थे कि यदि रज्झड़ों की लाख के धंधे से कमाई बढ़ गई तो रज्झड़ आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने लगेंगे और इन पर उनका दबाव कम हो जाएगा यानी सामंतवादी ताकत घटेगी। दो वर्षो तक रज्झड़ों ने हमारे आर्थिक प्रस्ताव के उत्तर में कोई पहल नहीं की। कई पीढ़ियों से रज्झड़ों में बैठा हुआ भय इतना गहरा था कि उनकी गरीबी के कारण उनको समझाने के लिए या लाख उगाकर उनकी आय बढ़ाने के लिए कोई भी तर्क उन पर असर नहीं डाल रहे थे।

अचानक एक दिन एक घटना से पासा पलट गया। इस साल मई के महीने में जब राशन की शक्कर गांव में बंटी तो उसके वितरण में हमेशा की तरह घपले हुए। अधिकतर गरीब लोगों की शक्कर किसी न किसी तरीके से विभिन्न मालगुजार परिवारों ने हड़प ली। इस इलाके के इतिहास में शायद पहली बार कुछ गरीब लोगों ने इकट्ठे होकर सरपंच से न्याय मांगने का साहस किया। गरीब लोगों की इस हिम्मत को देखकर सरपंच आगबबूला हो गए और उन्होंने हमारे एक कार्यकर्ता और दो आदिवासियों को पिटवा दिया। वैसे तो ऐसी मारपीट की घटनाएं आए दिन घटती रहती हैं और गरीब लोग यह अन्याय चुपचाप सहन कर लेते हैं। परंतु इस बार हमने इस मामले में दखल दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सरपंच को सारे गांव के सामने खुली माफी मांगनी पड़ी। आप में से जिन लोगों का सामंतवादी प्रभाव से परिचय रहा है वे ही पूरी तरह समझ सकते हैं कि ऐसी घटना का गांव के लोगों पर क्या असर हुआ होगा। दो वर्षों से रज्झड़ों के साथ की जा रही तार्किक प्रक्रिया से जो नहीं हो पाया वह अचानक इस 'शक्कर कांड' के भावनात्मक असर से अपने आप हो गया। पहली बार लोगों ने अपनी आंखों से देखा और महसूस किया कि पटेलों की ताकत असीम नहीं है, इसकी भी सीमा है। वैज्ञानिक पद्धति को आगे

बढ़ाने में जो अवरोध था वह इस प्रकार टूट गया। जुलाई के महीने में अन्य शोषित लोगों के साथ मिलकर रज्झड़ आदिवासियों ने संगठित होने का फैसला किया ताकि वे कई पीढ़ियों से चले आ रहे सामंतवादी दबाव से बाहर निकलकर कौसम के पेड़ों पर लाख उगाने का अपना हक पा सकें। इस तरह रुकी हुई शैक्षणिक प्रक्रिया को फिर शुरू करने के रास्ते खुल गए।

पांचवां और अंतिम अवरोध – अमूर्त चिंतन की क्षमता की कमी, यानी अपने अनुभवों के सीमित दायरे से निकलकर दूसरों के अनुभवों को समझने और इन सब अनुभवों को जोड़कर समस्याओं की एक व्यापक समझ बना पाने की क्षमता की कमी है। मैं एक बार फिर वाळक्काड गांव में परिषद् के कार्यक्रम का उल्लेख करूंगा। हमने वाळक्काड गांव के कुछ जागरूक कार्यकर्ताओं को चर्चा के दौरान बताया कि मध्य प्रदेश के शहडोल जिले में भी जल प्रदूषण की एक बिलकुल वैसी ही समस्या है। शहडोल जिले में सोन नदी के किनारे कागज का एक कारखाना है जिसके मालिक वही उद्योगपति हैं जो वाळक्काड गांव की रेयान फैक्टरी के मालिक हैं। कागज के इस कारखाने ने सोन नदी प्रदूषित कर दी है जिसके फलस्वरूप नदी के तट पर बसे कई गांवों के लोग पीड़ित हैं।[8] यह सब सुनकर भी वाळक्काड के लोगों पर कोई असर नहीं हुआ। शहडोल और सोन नदी दोनों उनसे बहुत दूर थे, इतने दूर कि इनका उनके जीवन में कोई अर्थ नहीं था। हमने तब उनसे पूछा कि क्या उन्हें रेयान फैक्टरी के मालिकों और तिरूवनंतपुरम की सरकार के बीच कोई संबंध दिखता है। लोग फिर भी चुप रहे। न्याय पाने के लिए उनका जो संघर्ष चल रहा था उसमें उन्हें तिरूवनंतपुरम की कोई भूमिका नहीं दिखी और न ही रेयान फैक्टरी और इतनी दूर बैठी सरकार के बीच कोई कड़ी दिखाई दी।

[8]तत्कालीन शहडोल जिले के अनूपपुर प्रखंड (अब अनूपपुर जिला) में विदूषक कारखाने के नाम से सक्रिय युवा इंजीनियरों के एक दल ने इस समस्या पर विस्तृत जानकारी इकट्ठी करके प्रसारित भी की थी। [जून 2015]

ऐसा लगता है कि किसी भी जन आंदोलन के आगे बढ़ने या फैलने में अमूर्त चिंतन की कमी एक महत्वपूर्ण अवरोध हो सकता है। ऐसे प्रमाण मौजूद हैं कि इस अवरोध का असर इतना गहरा और व्यापक साबित होगा जितना कि हम अभी तक सोच भी नहीं पाए हैं।

अब तक हुई बात से यह निष्कर्ष निकालना कतई सही नहीं होगा कि शोषित लोगों में अमूर्त चिंतन[9] की क्षमता विकसित ही नहीं हो सकती। सही प्रश्न तो शायद यह होगा कि इस संदर्भ में गरीबों के बीच काम करने वाले बाहरी कार्यकर्ताओं की अपनी समझ कितनी व्यापक है। ऐसे कई उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि गरीब लोगों में अमूर्त चिंतन की शुरूआत हुई है।

इस क्षमता की संभावना की एक झलक तो मजदूर संगठन के उस उदाहरण से मिलती है जिसमें शोषित लोगों ने 'हमारी जात गरीबी है' का नारा दिया था। इस नारे के पीछे एक सिद्धांत उभरता दिखता है – उनके जात–पात के भेदभाव गौण हैं, परंतु वे सभी गरीबी और शोषण के सामान्य सूत्र में बंधे हैं। इस सूत्र को पहचान पाना अमूर्त चिंतन का एक छोटा सा परंतु ठोस कदम है। आइए, एक उदाहरण पर विचार करें। महाराष्ट्र के ठाणे जिले में आदिवासियों का एक आंदोलन चल रहा है जिसका नाम भूमि सेना है[10]। एक बार भूमि सेना के ग्रामीण तरुण मंडलों के लगभग 100 प्रतिनिधियों की बैठक में इस बात पर विचार–विमर्श हुआ कि अपनी मजदूरी बढ़वाने के लिए बड़े किसानों के विरोध में प्रस्तावित हड़ताल की तैयारी कैसे की जाए।

---

[9]गौरतलब है कि अमूर्त चिंतन की क्षमता पूंजीवादी ताकतों से संघर्ष के दौरान वर्ग चेतना उभरने से विकसित होगी – तब केवल भारत के अंदर ही नहीं बल्कि दुनियाभर के मजदूरों से एकजुट होकर वर्ग संघर्ष खड़ा करने की अमूर्त दिखनेवाली संभावना भी मूर्त हो सकेगी। [जून 2015]

[10]यह वृतांत सन् 1978–79 में आदिवासियों के बीच काम करने के लिए विख्यात दिवंगत दत्ता सावळे (पंढरपुर, महाराष्ट्र) ने किशोर भारती में आयोजित जनसंगठन की एक बैठक में साझा किया था। [जून 2015]

एक रोचक सवाल उठा कि तरुण मंडलों के कार्यकर्ता समाज के विभिन्न तबकों – संपन्न व मध्यमवर्गीय किसान, गरीब किसान, भूमिहीन मजदूर – के बारे में क्या सोचते हैं। प्रत्येक कार्यकर्ता ने अपनी–अपनी समझ बताई कि इनमें से कौन आंदोलन का दोस्त है और कौन दुश्मन। उन्होंने अनेक अनुभव सुनाए जिनसे अलग–अलग लोगों का वर्ग चरित्र उभरा। इन सभी कहानियों का विवेचन हुआ और जो निष्कर्ष निकला वह बहुत चकित कर देने वाला था। बैठक का निष्कर्ष था कि मध्यम वर्ग का किसान उनका दोस्त नहीं हो सकता क्योंकि वह भी बड़े किसानों की तरह अपनी खेती मजदूरों से करवाता है। परंतु छोटे किसान जो अपने खेत पर स्वयं काम करते हैं और खाली समय में भूमिहीनों की तरह बाहर मजदूरी करते हैं, उन्हें आंदोलन का दोस्त मानना चाहिए क्योंकि वे भूमिहीनों की तरह ही शोषित हैं। कुछ लोगों ने एक नया मुद्दा जोड़ा कि छोटे किसान का शोषण तो दो बार होता है। एक बार जब वह खाली समय में खाने–पीने को कुछ नहीं होने के कारण भूमिहीनों की तरह साहूकारों से अनाज उधार लेता है – कर्ज का एक रूप जिसे 'खावटी' के नाम से जाना जाता है। दूसरी बार शोषण तब होता है जब बोनी के समय वह बीज उधार लेता है। इस समझ के आधार पर बैठक में एक नया निर्णय हुआ कि अगली हड़ताल में छोटे किसानों को भी अपना साथ देने के लिए प्रोत्साहित किया जाएगा। यह अमूर्त चिंतन की शुरूआत का एक उदाहरण है जब गरीब लोगों ने अपने जीवन के आम अनुभवों के आधार पर सिद्धांत विकसित करने की क्षमता दिखाई। अपने काम से सिद्धांत विकसित करना और उन्हें नई परिस्थितियों से जोड़ पाना वैज्ञानिक पद्धति का एक जरूरी आयाम है। इस आयाम के बिना वैज्ञानिक पद्धति को फैलाने की प्रक्रिया अधूरी प्रक्रिया होगी।■

जन आंदोलन की ओर

यदि हम शैक्षणिक प्रक्रिया में आने वाले इन पांचों अवरोधों को दूर कर सकें तो एक सशक्त तथा व्यापक जनआंदोलन खड़ा हो जाने की संभावना बढ़ जाएगी। यदि ऐसा हो पाया तो हमें विश्वास है कि शोषित वर्ग के लोग देश की नीतियों को वैज्ञानिक पद्धति की कसौटी पर परख सकेंगे और तब योजनाएं बनाने की प्रक्रियाओं तथा विकास कार्यक्रमों पर अभिजात वर्ग के प्रभुत्व को चुनौती भी दे सकेंगे। तभी योजना आयोग के तहत विज्ञान और तकनॉलॉजी की शिक्षा के विषय पर हुई गोष्ठी, मलेरिया निवारण जैसी महत्वपूर्ण स्वास्थ्य समस्याओं पर चल रहे गैर–वैज्ञानिक चिंतन, हमारी स्कूली पाठ्यपुस्तकों के द्वारा भारत की गरीबी और जनसंख्या के संबंध में फैलाए जा रहे भ्रम और स्कूलों पर स्लाइड–टेप सीरीज़ वाली निरर्थक गतिविधियों को थोपने की कोशिश जैसी अनेक राष्ट्रव्यापी निहायत गैर–तार्किक प्रक्रियाओं को रोक देना संभव हो सकेगा और इनकी जगह पर वैज्ञानिक आधार पर बनाए गए सार्थक विकास कार्यक्रमों की शुरुआत हो सकेगी। तभी यह संभव होगा कि सर्वोदय सम्मेलन में व्यक्ति पूजा और चाटुकारिता की जो प्रवृत्ति दिखी उसे देश की आम जनता चुपचाप सहन करना बंद कर देगी। सभी नेतागणों से उनके हर कथन, काम और निर्णयों के वैज्ञानिक आधारों की मांग की जाएगी। यदि अमूर्त चिंतन भी आम लोगों की जिंदगी का अंग बन सका तो वाळक्काड गांव के लोग अपने और शहडोल जिले के लोगों के शोषण के बीच की कड़ी देख पाएंगे और तभी वाळक्काड की रेयान फैक्टरी के मालिकों और तिरूवनंतपुरम तथा नई दिल्ली की सरकारों के संबंध साफ दिखने लगेंगे। ऐसे जनसंगठन जो वैज्ञानिक पद्धति पर विकसित होंगे उनसे उम्मीद है कि उनके संघर्ष बेहतर मजदूरी और जमीन की मांगों तक ही सीमित नहीं हो जाएंगे, वरन् उनके संघर्षों का उद्देश्य ऐसे समाज की रचना करना

होगा जो आज की तुलना में विषमता, शोषण, नौकरशाही की जकड़न और सामाजिक तथा राजनीतिक पिछड़ेपन के अन्य पहलुओं से मुक्त होंगे। जब यह सब हो पाएगा तभी उन आंदोलनों की वर्तमान सीमाओं को तोड़कर उनका नया स्वरूप उभर सकेगा।■

आज अगर खामोश रहे,

तो कल सन्नाटा छाएगा,

हर बस्ती में आग लगेगी,

हर बस्ती जल जाएगी,

सन्नाटे के पीछे से बस एक सदा ही आएगी,

कोई नहीं है,

कोई नहीं है,

कोई नहीं है।

– **साहिर लुधियानवी**

सौ में सत्तर आदमी

• अदम गोंडवी

सौ में सत्तर आदमी, फ़िलहाल जब नाशाद हैं,
दिल पे रखकर हाथ कहिए, देश क्या आज़ाद है

कोठियों से मुल्क की, मय्यार को मत आंकिये,
असली हिंदुस्तान तो, फुटपाथ पर आबाद है

जो मिटा पाया न अब तक, भूख के अवसाद को,
दफन कर दो आज, इस मफ़लूस पूंजीवाद को

जिस शहर के मुंतज़िम, अंधे हों जल्वागाह के,
उस शहर में रोशनी की, बात बेबुनियाद है

जो उलझकर रह गई है, फ़ाइलों के जाल में,
गांव तक वह रोशनी, आएगी कितने साल में

बूढ़ा बरगद साक्षी है, किस तरह से खो गई
रमसुधि की झोपड़ी, सरपंच की चौपाल में

खेत जो सीलिंग के थे, सब चक में शामिल हो गए,
हम को पट्टे की सनद, मिलती भी है तो ताल में

जिसकी कीमत कुछ न हो, इस भीड़ के माहौल में,
ऐसा सिक्का ढालिए मत, जिस्म की टकसाल में।

– 'धरती की सतह पर' से

प्रगतिशील धारा के प्रसिद्ध जनकवि–गज़लकार अदम गोंडवी का जन्म 22 अक्टूबर 1947 को उत्तर प्रदेश के गोंडा ज़िले में हुआ था। उनकी रचनाओं में आक्रोश का जमीनी स्वर है जो अपने समय की हकीकत को सीधी चुनौती देता है। कबीर की ठेठ फक्कड़ी परंपरा के इस जनकवि का 18 दिसंबर 2011 को देहांत हो गया।

"एक अग्रणी राष्ट्र–स्तरीय संस्था (एन.सी.ई.आर.टी.) द्वारा तैयार की गई नई पाठ्यपुस्तकों में जनसंख्या के विषय पर अध्याय हैं, जिनका उद्देश्य बच्चों में देश की इस महत्वपूर्ण समस्या के प्रति जागरूकता पैदा करना है। हमने इन अध्यायों का बहुत बारीकी से अध्ययन और विवेचन किया है। इन अध्यायों में तर्क दिया गया है कि जनसंख्या तेजी से बढ़ने के कारण बढ़ते हुए उत्पादन का कोई खास लाभ देश को नहीं मिल पाता और गरीबी बढ़ती रहती है। इन अध्यायों में यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि भारत की गरीबी का प्रमुख कारण बढ़ती हुई आबादी है और इन्हीं तर्कों के आधार पर यह कहा जाता है कि गरीबी की समस्या जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण करके और उत्पादन बढ़ाकर ही हल की जा सकती है। इन पाठ्यपुस्तकों में कहीं भी यह समझाने का प्रयास नहीं है कि भारत के गोदाम अनाज से भरे रहने के बावजूद ऐसा क्यों है कि अनाज उगाने वाले करोड़ों मेहनतकश लोग स्वयं कुपोषित रहते हैं और अकसर भूख से मर भी जाते हैं। इन पाठ्यपुस्तकों में संसाधनों के असमान वितरण, समाज में व्याप्त विषमताओं और गरीबी की रेखा के नीचे बसर करने वाले लोगों की क्रय शक्ति की अत्यंत सीमित क्षमता जैसी बातों का कहीं ज़िक्र तक नहीं है।"

– इसी पुस्तक के पृष्ठ क्र. 8 व 9 से उद्धरित

किशोर भारती, ई–8/29, सहकार नगर, भोपाल 462 039

सहयोग राशिः ₹ 20/-